

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180242

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 88

Accession No. H 3035

B 57 M

Author भारती, धर्मवीर.

Title गजिव दूत्य और साहित्य. 1960.

This book should be returned on or before the date
last marked below.

मानव मूल्य और साहित्य



■ ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला हिन्दी-ग्रन्थाङ्क-११२

मानव मूल्य और साहित्य •

धर्मवीर भारती

भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला
सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रथम संस्करण
१९६० ई०
मूल्य ढाई रुपये

प्रकाशक
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी

अनुक्रम

प्रथम खण्ड



मानवीय तत्त्वोंका विघटन

क—अन्तरात्माके ध्वसावशेष	१९
ख—अवरुद्ध सृजनात्मकता :	
पुंस्त्व हीन नायक और	
सामाजिक अयथार्थ	३८
ग—एक भव्य अतीतका अनिश्चित भविष्य	५२
घ—निर्माणपरक दायित्व और राष्ट्र	६९
ङ—हाथी-दाँतकी भारतीय मीनारें	७८

द्वितीय खण्ड



नयी मर्यादाका उदय

१०१

तृतीय खण्ड



नये मूल्य और विविध सन्दर्भ

क—समीक्षाके आयाम	१४३
ख—सृजन प्रक्रियाका मानवीय धरातल	१५६
ग—उपन्यास और आत्मान्वेषण	१६३
घ—नयी कविता और दायित्वकी आन्तरिकता	१७५



Everything must be put back into question, everything must be put back into doubt; nothing but the authentic should be accepted, from which all mysticism has been expunged. I mean by mysticism all blind belief.

Andve Gide

भूमिका



जब हम मानव मूल्यकी बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य क्या है, यह समझ लेना आवश्यक है। अपनी परिस्थितियाँ, इतिहास-क्रम और काल-प्रवाहके सन्दर्भमें मनुष्यकी स्थिति क्या है और महत्त्व क्या है—वास्तविक समस्या इस बिन्दुसे उठती है। समस्त मध्यकालमे इस निखिल सृष्टि और इतिहास-क्रमका नियन्ता किसी मानवोपरि अलौकिक सत्ताको माना जाता था। समस्त मूल्योंका स्रोत वही था और मनुष्यकी एकमात्र सार्थकता यही थी कि वह अधिकसे अधिक उस सत्तासे तादात्म्य स्थापित करनेकी चेष्टा करे। इतिहास या काल-प्रवाह उसी मानवोपरि सत्ताकी सृष्टि था—माया रूपमे या लीला रूपमें।

ज्यों-ज्यों हम आधुनिक युगमें प्रवेश करते गये त्यों-त्यों इस मानवोपरि सत्ताका अवमूल्यन होता गया। मनुष्यकी गरिमाका नये स्तरपर उदय हुआ और माना जाने लगा कि मनुष्य अपनेमें स्वतः सार्थक और मूल्यवान् है—वह आन्तरिक शक्तियोंसे सम्पन्न, चेतन-स्तरपर अपनी नियतिके निर्माणके लिए स्वतः निर्णय लेनेवाला प्राणी है। सृष्टिके केन्द्रमें मनुष्य है। यह भावना बीच-बीचमें मध्यकालके साधकों या सन्तोंमें भी कभी-कभी उदित हुई थी, किन्तु आधुनिक युगके पहले यह कभी भी सर्वमान्य नहीं हो पायी थी।

लेकिन जहाँ एक ओर सिद्धान्तोंके स्तरपर मनुष्यकी सार्व-भौमिक सर्वोपरि सत्ता स्थापित हुई, वहीं भौतिक स्तरपर ऐसी परिस्थितियाँ और व्यवस्थाएँ विकसित होती गयीं तथा उन्होंने ऐसी चिन्तनधाराओंको प्रेरित किया जो प्रकारान्तरसे मनुष्यकी सार्थकता और मूल्यवत्तामें अविश्वास करती गयीं । बहुधा ऐसी विचारधाराएँ नामके लिए मानववादके साथ विशिष्ट विशेषण जोड़कर उसका प्रश्रय लेती रही हैं । किन्तु मूलतः वे मानवकी गरिमाको कुण्ठित करनेमें सहायक हुई हैं और मानवका अव-मूल्यन करती गयी हैं ।

सांस्कृतिक संकट या मानवीय तत्त्वके विघटनकी जो बात बहुधा उठायी जाती रही है उसका तात्पर्य यही रहा है कि वर्तमान युगमें ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी हैं जिसमें अपनी नियतिके, इतिहास-निर्माणके सूत्र मनुष्यके हाथोंसे छूटे हुए लगते हैं—मनुष्य दिनोदिन निरर्थकताकी ओर अग्रसर होता प्रतीत होता है । यह संकट केवल आर्थिक या राजनीतिक संकट नहीं है वरन् जीवनके सभी पक्षोंमें समान रूपसे प्रतिफलित हो रहा है । यह संकट केवल पश्चिम या पूर्वका नहीं है वरन् समस्त संसारमें विभिन्न धरातलोंपर विभिन्न रूपोंमें प्रकट हो रहा है ।

प्रस्तुत पुस्तकमें साहित्यको इसी वर्तमान मानवीय संकटके सन्दर्भमें देखनेकी और जाँचनेकी चेष्टा की गयी है । साहित्य मनुष्यका ही कृतित्व है और मानवीय चेतनाके बहुविध प्रत्यन्तरो (Responses) मेंसे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रत्युत्तर है । इसलिए हम आधुनिक साहित्यके बहुत-से पक्षोंको या

आयामोंको केवल तभी बहुत अच्छी तरह समझ सकते हैं जब हम उन्हें मानव मूल्योंके इस व्यापक संकटके सन्दर्भमें देखनेकी चेष्टा करें ।

● अभी तक हिन्दी साहित्यके तमाम अध्ययनोंमें दो दृष्टि-कोण लिये जाते रहे हैं । या तो हिन्दी साहित्यको अपनेमें एक सम्पूर्ण वृत्त मानकर उसका अध्ययन इस तरह किया जाता था जैसे वह शेष सभी बाहरी सन्दर्भोंसे विच्छिन्न हो । या इसका स्वरूप यह था कि उसपर बाहरी शक्तियों और धाराओंके प्रभावोंका लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाता रहा है गोया वह केवल निष्क्रिय तत्त्व हैं जिसे दूसरे केवल प्रभावित कर सकते हैं । किन्तु वह केवल दूसरे साहित्योंसे 'प्रभावित' ही नहीं हुआ है वरन् विश्व इतिहासकी समस्त प्रक्रियामें स्वयम् एक स्वतन्त्र शक्तिके रूपमें उसने संकटका सामना किया है, नये मूल्योंके विकासकी भूमिका प्रस्तुत की है और तमाम साहित्योंके बीच वह केवल दूसरोसे प्रभावित होनेकी वस्तु ही नहीं रहा है वरन् उन तमाम आधुनिक परिस्थितियोंके बीच उसका अपना सहज स्वाभाविक उन्मेष हुआ है ।

● प्रस्तुत पुस्तकमें इसीलिए पहले व्यापक सांस्कृतिक संकटका सर्वेक्षण किया गया है और तब उसके सन्दर्भमें हिन्दी साहित्यकी बात कराई गई है । हिन्दीके प्रसङ्गमें लेखकने छायावाद और प्रगतिवाद दोनोंके प्रति असन्तोष व्यक्त किया है क्योंकि उसके विचारमें एकने मूल समस्याका सामना ही नहीं किया और दूसरेने समस्याको गलत परिप्रेक्ष्यमें उठाकर उलझने बढ़ा दीं ।

अपनी सहमति असहमतिको लेखकने स्पष्ट और बलपूर्वक रखने-की चेष्टा की है क्योंकि उसका विश्वास है कि चिन्तनके क्षेत्रमें यह आवश्यक भी है और उपयोगी भी ।



यह पुस्तक लगभग तीन वर्ष पूर्व ही पाठकोके सामने आ जानी चाहिए थी लेकिन परिस्थितियोंवश इसके प्रकाशनमें विलम्ब होता गया । इसके लेखनके दौरानमें सर्वश्री लक्ष्मीकान्त वर्मा, डा० रघुवंश, फादर आई० ए० एक्स्ट्रास, विजयदेव नारायण साही तथा डा० रामस्वरूप चतुर्वेदीसे अक्सर विचार-विनिमय होता रहा है जिससे मेरे चिन्तनको बहुत प्रेरणा मिली है । मैं उन सबोंके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ ।

बुधवार, ६ मार्च, ६० }

—धर्मवीर भारती

अपने परम आदरणीय आचार्य
डा० धीरेन्द्र वर्माको, क्योंकि
उन्हींके सम्पर्कसे निर्भीक
चिन्तनका मूल्य जान
सका हूँ ।

मानव मूल्य और साहित्य

मानवीय तत्त्वका विघटन



अन्तरात्माके ध्वंसावशेष

“अपने हृदयपर कीलोंसे ठुकी हुई जैसे सलीबपर चोर
मैं लटक रही हूँ बीचोबीच—जीसस्के और उस खाईके—जहाँ
इस संसारका अन्त हो गया है !... ”

.....

जीवित अन्धे और द्रष्टा मुर्दे एक साथ पड़े हुए हैं
जैसे प्रेमी... और न अब नफ़रत रही है
और न प्रेम है । लुप्त हो गया है मनुष्यका हृदय ।”

(एडिथ सिटवेल : “अणुबमपर तीन कविताएँ”)

एडिथ सिटवेलकी ये पंक्तियाँ आजसे ठीक दस वर्ष पूर्व १९४७ में लिखी गई थीं और इसका शीर्षक था “नये सूर्योदयका मरसिया ।” लगभग समस्त पाश्चात्य साहित्यमे, द्वितीय महायुद्धकी समाप्तिके बाद जो साहित्य आया उसमे उसी विषाद, निराशा, दुश्चिन्ता, बेचैनीकी प्रतिध्वनि मिलती है जो इन पंक्तियोंमें है । पश्चिमने यह अनुभव कर लिया था कि वह एक ऐसे बिन्दुपर पहुँच गया है जिसके आगे अँधेरा है, अनिश्चय है, दिग्भ्रम है । यह सिटवेल नहीं बल्कि यूरोपका मानस बोल रहा था जो “लटक रहा था बीचोबीच—जीसस्के और उस खाईके जहाँ इस संसारका अन्त हो गया है ।”... और जहाँ भले बुरेकी दीवार टूट गई है । जहाँ शब्द कुछ और है, अर्थ कुछ और । धारणा कुछ और है आचार कुछ और है; कर्म कुछ है, परिणाम दूसरा । पश्चिमकी समस्त व्यवस्था तूफ़ानमें पड़े हुए ऐसे जहाज़की तरह हो गयी है जिसके पाल फट चुके हैं, पतवारें टूट चुकी हैं, माझी बेकाम हो चुके हैं । उत्ताल लहरोंपर निरुद्देश्य डोलता

हुआ एक विशाल पोत । द्वितीय महायुद्धके बाद जिस अस्तित्ववादी विचार-धाराका आकस्मिक प्रसार पश्चिममें हुआ, उसमें बार-बार जो प्रतीक प्रयुक्त हुआ है, वह इसी तूफ़ानमें ध्वस्त जहाज़का !

पिछली शताब्दीमें ही यूरोपीय-साहित्यमें ध्वस्त होती हुई इस अन्तरात्माका स्पष्ट आभास मिलने लगा था । विशेषतया डास्टावस्कीकी कथाकृतियोंमें मानवीय अन्तरात्माका जो विराट् मानचित्र प्रस्तुत किया गया था वह एक विशाल पैमानेपर घटित होते हुए विघटनका सूचक था, एक बहुत बड़े आसन्न सकटका द्योतक था । पश्चिमके कथा साहित्य और नाटकोंमें कर्मठ नायकोंका स्थान दिनोदिन ऐसे नायक ले रहे थे जो अन्तर्द्वन्द्वसे ग्रस्त थे, निष्क्रिय थे । एक अजीबसे दिग्भ्रम और जड़ मूर्छनाके शिकार थे । ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे इतिहासके सूत्र बुरी तरह उलझ गये थे उनके बीचमें अन्तरात्माका कोई जोर नहीं चल पाता था । इतिहाससे उसकी कोई सगति नहीं बैठ पाती थी । जैविक विकासके नियमों के अनुसार जैसे जिन पक्षियोंके पख काम नहीं आते हैं, वे दिनोदिन उड़नेकी शक्ति खोते जाते हैं, छोटे होते जाते हैं, नाम मात्रके रह जाते हैं उसी प्रकार दिनोदिन मानवीय अन्तरात्मा सर्वथा निश्शक्त होकर विलुप्त होती जा रही थी । या यदि रह भी गयी थी तो ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे यह अन्तरात्मा केवल कुछ अव्यावहारिक अन्तर्मुखी स्वप्नदर्शियोंका अनावश्यक मानसिक उद्वेग बनकर रह गयी है, जिसका बाह्य यथार्थसे कोई मेल नहीं बैठ पाता ।

यह स्थिति धीरे-धीरे कैसे विकसित हुई और क्रमशः किन अवस्थाओंसे गुजर कर पाश्चात्य-चेतना इस बिन्दु तक पहुँची इसका एक बहुत लम्बा इतिहास है किन्तु यहाँपर केवल इतना सकेत कर देना यथेष्ट होगा कि विज्ञानके उदयने पुरानी मान्यताओंके समक्ष गहरे प्रश्न-चिह्न लगा दिये थे और मनुष्य पहले जिन धर्म-ग्रन्थोंमें प्रणीत नियमों या आचार-विधानोंको अन्तरात्माकी आधार-भूमि मानता था, वे धीरे-धीरे

निरर्थक सिद्ध हो चुके थे। मानववादके उदयकालमें ईश्वर जैसी किसी मानवोपरि सत्ता या उसके प्रतिनिधि धर्माचार्योंको नैतिक मूल्योंका अधिनायक न मानकर मनुष्यको ही इन मूल्योंका विधायक माननेकी प्रवृत्ति विकसित होने लगी थी। इसी समय पहली बार यह स्पष्ट हो सका था कि 'अन्तरात्मा' मानवीय अन्तरमें स्थित कोई दैवी या अतिप्राकृतिक शक्ति न होकर वस्तुतः मानवीय गरिमाके प्रति हमारा संवेदनशीलताका ही दूसरा रूप है और मनुष्यके गौरवको प्रतिष्ठित करने और उसकी निरन्तर रक्षा करनेके प्रति हमारी जागरूकता ही हमारी जाग्रत अन्तरात्माका प्रमाण है। उसी समय पहली बार यह भी स्वीकार किया गया था कि पुराने मूल्य अब मिथ्या पड़ने लगे हैं। ऐसी श्रद्धा और आस्था जो हमें नरबलि तकके लिए विवश करे और वह करुणा जो दान-दयाके द्वारा व्यक्त हो पर समाजके वैषम्यको विधिका विधान मानकर स्वीकार कर ले—इस प्रकारकी श्रद्धा और करुणा अमानवीय वृत्तियोंको जन्म देते हैं, वे मानवीय गौरवको प्रतिष्ठित करनेकी बजाय उसको विकलांग बनाते हैं। उसी समय पहली बार यह भी स्पष्ट होने लगा कि विवेक अन्तरात्माके सहायक तत्त्वोंमें सम्भवतः सबसे प्रमुख और सबसे विश्वसनीय है। मानवीय गौरवके अर्थ यह है कि मनुष्यको स्वतन्त्र, सचेत, दायित्वयुक्त माना जाय जो अपनी नियति, अपने इतिहासका निर्माता हो सकता है। इसके लिए उसके विवेक और मनोबलको सर्वोपरि और अपराजेय माना जाय।

कहा जाता है कि मृत्युके कुछ पहले न केवल व्यक्तियों वरन् संस्कृतियोंको भी एक विचित्र-सी दृष्टि प्राप्त हो जाती है। वे जीवनके आरपार देखने लगते हैं। ऐसा लगता है कि मानववादके उदयकालमें योरोपको कुछ वैसी ही दृष्टि प्राप्त हो गयी थी। दीपक बुझनेके पहले जैसे अन्तिम लौ फेंक रहा था और उसके बाद ही जैसे उसकी शिखा काँपने और टिम-टिमाने लगी। एक ओर यह नवोपलब्ध दृष्टि और दूसरी ओर अकस्मात् पूरी सांस्कृतिक व्यवस्थाका सहसा चरमरा उठना ! यह नहीं कि उसमें

उत्साहकी कमी थी । एक बहुत बड़ा वर्ग ऐसा ही था जो सन्निपातग्रस्त रोगीकी भाँति बेहद आवेशमें था, उत्साहमें था, अदम्य आशावादी था, जो यूरोपीय संस्कृतिकी आन्तरिक असंगतियों और उसके आसन्न विनाश को केवल निराशावादियोंका प्रलाप समझते हुए यूरोपकी विश्व-विजयके स्वप्न देख रहा था, जैसे किपलिङ्ग; या इस समस्त उथल-पुथल-को किसी महामानवके अवतरणकी भूमिका मान रहा था जैसे नीत्शे ! यथार्थकी घोर उपेक्षाकर प्रवचनाके कल्पित स्वप्न-जगत्में निरन्तर निवास करनेवालोके ऐसे ही आशावादको देखकर किसी विचारकने यह कहा होगा कि “आशावादीका उपयुक्त आश्रयस्थल है—पागलखाना !”

अविवेक और असंगतिकी उपेक्षा कर, या यह कहना बेहतर होगा कि उन्हें नज़र-अन्दाज़कर, एक कल्पित मनोजगत्के सौन्दर्यमें डूबनेकी प्रवृत्तिका सबसे उदात्त रूप हमें यूरोपके उन स्वच्छन्दतावादी (रोमाण्टिक) विचारकों और कवियोंमें मिलता है जो हिन्दीके छायावादियोंके दिशा निर्देश कर रहे हैं । उन्होंने इन तमाम स्थितियोंके लिए एक महामहिम शब्दका प्रयोग किया था रहस्य (मिस्ट्री) और उस युगकी वृत्तिका नामकरण किया था “विस्मयका पुनर्जागरण” (रेनेसाँ आफ वण्डर) । ये बड़ी ही काव्यात्मक मनोहारी धारणाएँ थीं, पर अफसोस संस्कृतिमें जो आन्तरिक विघ्न आ रहा था उसे यथार्थ स्तरपर ग्रहण करनेमें यह नितान्त असफल सिद्ध हुई । स्वच्छन्दतावादी चिन्तन और साहित्यका कुछ अंश ऐसा है जो मानवीय चिन्तनके एक आयामको निरन्तर उद्बुद्ध और प्रेरित करता रहा । पर उसका यह ‘रहस्य’ और ‘विस्मय’ वाला तत्त्व कुछ दिनों बाद ही अस्वीकृत हो गया और ‘रहस्य’से वे जिस असंगतियोंको एक प्रभामण्डल से आच्छादित करना चाहते थे, अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ और अधिक यथार्थ-दर्शी यूरोपने उसके लिए “रहस्य” जैसे महामहिम शब्दकी अपेक्षा एक अधिक प्रत्यक्ष, अधिक यथार्थबोधक शब्द प्रयुक्त करना शुरू किया अविवेक (इर्रेशनल) । यह जो मनुष्यके अन्दर उसके व्यक्तिगत व्यवहार

में, मानसिक प्रतिक्रियाओंमें, संस्कृतिमें, समाज-व्यवस्थामें, इतिहासमें जो अहेतुक है, जो अविवेकी है, असंगत है, 'इर्रेशनल' है, वह इनके लिए वह एक आसन्न संकट बन गया था, ऐसी शिला बन गया था जिससे टकरा कर यूरोपीय संस्कृतिके 'दीनपोत'का मरण अवश्यम्भावी प्रतीत होने लगा था और वह 'इर्रेशनल' अब इनके लिए मात्र विस्मय और पूजाकी वस्तु न बनकर चिन्ता और आशंकाकी वस्तु बन गया था, जीवन-मरणका प्रश्न बन गया था। यदि ध्यानसे पिछले दो सौ वर्षोंके यूरोपीय चिन्तन-धाराका विश्लेषण किया जाय तो हम यह पायेंगे कि लगभग समस्त आधुनिक यूरोपीय चिन्तन इसी इर्रेशनलकी व्याख्याका प्रयास है। और यह प्रवृत्ति केवल अविवेक तक ही सीमित नहीं रही बल्कि यह अविवेक जो उचित अनुचित, सत् असत्को एकसाँ मानता है उसके प्रति एक गहन आकर्षणमें बदल गई। नीत्शने तो यहाँ तक कहा कि "असत्यको जीवनकी एक अनिवार्य शर्त मानना होगा" (बियाण्ड गुड एण्ड ईविल) और और विभिन्न पगडण्डियोंसे यूरोपकी विभिन्न चिन्ताधाराएँ इसी परिणाम तक पहुँचीं। यह बात दूसरी है कि उनकी तर्क - प्रणाली चाहे पृथक् हो और उनकी इस अविवेक-भक्तिकी परिणति अन्ततोगत्वा नाजियोंकी-सी अमानुषिक और निरंकुश मनोवृत्तिमें हुई हो, पर मूलतः यह सारी अविवेक-भक्ति स्वच्छन्दतावाद (रोमाण्टिसिज़्म) से ही उद्भूत हुई थी— "अविवेकके आधुनिक भक्त जैसे नाजीवादके कई समर्थक चाहे इन रूमानी चिन्तकोसे बहुत आगे निकल गये हों, पर इस धारणाकी जड़ रोमाण्टिसिज़्ममें ही है।" क्रेन ब्रिण्टन—'आइडियाज़ एण्ड मेन'

हम पहले ही कह चुके हैं कि अन्तरात्मा वस्तुतः आधुनिक सन्दर्भमें मानवीय गौरवके प्रति हमारी जागरूक संवेदनाका पर्याय है, और मानवीय गौरवकी प्रतिष्ठा इसीमें है कि मनुष्यको हम विवेक और संकल्प-शक्तिके युक्त इतिहासका निर्माता और अपनी नियतिका अधिनायक मानें।

स्वच्छन्दतावादाने पहली बार भावनाके सामने विवेकका पूर्ण तिरस्कार कर (गेटे तक ने कहा था—‘भावना ही सब कुछ है !’) अविवेकके लिए जो द्वार खोल दिया उस चिन्तन - धाराने ऐसे तत्त्व प्रविष्ट करा दिये जो बार-बार मनुष्यके विवेक और उसकी सकल्प शक्तिको निरर्थक मूल्यहीन सिद्ध करते गये और मानवीय गौरवके मूलपर ही कुठाराघात करते रहे !

आवर्तमान मनुष्य—इस मानवीय गौरव, और उसको प्रतिष्ठित करनेवाले सदसद् विवेकपर सबसे तीखा आघात नीत्शेका था । नीत्शेने ही पहली बार बड़े बलसे यह प्रतिपादित किया कि वह मनुष्य जो आज है, जो वर्तमान है वह निरर्थक है, वह मूल्योंका उद्गम स्रोत नहीं है, क्योंकि वह अखिल सृष्टि-विकासका परम लक्ष्य नहीं है वह तो एक सेतु मात्र है—पिछली जीव सृष्टि और आगे आनेवाले एक महामानव (सुपरमैन) के बीचका सेतु । इसीलिए इसका हित अहित, इसके प्रति उचित अनुचितका मापदण्ड स्वतः यह वर्तमान मनुष्य नहीं है, उसका वास्तविक मापदण्ड-अ-वर्तमान मनुष्य है जो महामानव है ! इस प्रकार नीत्शेन विकासवादके कतिपय तर्कोंका उपयोग कर मानवीय मूल्योंके निर्धारणकी कसौटी आजका मानवीय यथार्थ न मानकर वर्तमान मनुष्य-से उसके गौरवका अपहरण कर उसे एक मरणासन्न जातिका जीव सिद्ध कर दिया ।

इसका परिणाम यह हुआ कि नीत्शेने नैतिक मूल्योंके निर्धारणकी जो परिपाटी अपनाई उसमें मानवीय गौरवको प्रतिष्ठित करनेवाली अन्तरात्मा-का कोई स्थान ही नहीं था । उसने स्पष्ट कहा—“किसी भी मतका असत्य होना उसको हमारे आक्षेपके योग्य नहीं बना देता” प्रश्न यह नहीं है कि कोई मत सत्य है अथवा असत्य, प्रश्न यह है कि वह कहाँ तक जीवनको विकास देनेवाला है, जीवनका रक्षण करनेवाला है, [जातिका रक्षण करनेवाला है,] जातिकी वृद्धि करनेवाला है और मूलतः हम यह मानते आये हैं कि सबसे असत्य मत ही हमारे लिए सबसे अनिवार्य सिद्ध हुए

हैं.....उनके बिना हम रह नहीं सकते—असत्य मतका तिरस्कार वस्तुतः जीवन मात्रका निषेध बन जायगा ।”

अन्तरात्माकी व्यर्थता और इसी सन्दर्भमें नैतिक मूल्योंकी निरर्थकताके बारेमें नीत्शेसे कई शताब्दी पूर्व लगभग ऐसी ही बातें प्रख्यात या कुख्यात मैकियावेलीने कही थीं । उसने भी स्पष्ट यह कहा था कि शासकको अपने किये हुए वायदे नहीं निभाने चाहिए—यदि स्थितियाँ बदल जायँ । उसे दिखना चाहिए करुणायुक्त, स्नेहशील, क्षमाशील.....होना चाहिए कठोर, निर्मम, आतङ्ककारी । उसे मनुष्यके अन्दरके पशुको पहचानना चाहिए और उसपर नियन्त्रण कर उसे उन्हे हँकाना चाहिए । मैकियावेलीने जब यह बातें कही थीं तो मनुष्य जातिके कल्याणका दावा नहीं पेश कर रहा था, वह केवल शासक कैसे सत्ता हस्तगत करता है, कैसे अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा पूरी करता है, और सत्ताकी तृष्णाके क्षणमें कैसे उसके लिए अन्तरात्मा निरर्थक सिद्ध हो जाती है इसका विवरण मात्र कर रहा था, बिना एक पैगम्बरका लबादा ओढ़े हुए । पर नीत्शेका दावा था कि वह जरथुस्त्रकी तरह पैगम्बर है जो आगामी महामानवकी उद्घोषणा कर रहा है, और वास्तविकता यही थी कि वह अन्तरात्मा और सद्-असद्-विवेकको उतना ही निरर्थक मान रहा था जितनी मैकियावेली अपने सत्ताखोर शासकके लिए !

स्पष्ट है कि नीत्शेका यह अवर्तमानको प्रतिपादित करनेवाला दर्शन सामान्य मानवीय गौरवका विरोधी था । फलस्वरूप उसने ऐसी प्रवृत्तियोंको प्रश्रय दिया जिसमें अपनेको सामान्यजनसे बहुत ऊँचा समझनेवाले कतिपय अहंकारग्रस्त लोग अन्तरात्माका सर्वथा तिरस्कार कर रक्तकी शुद्धता या जातिगत श्रेष्ठताके आधारपर विश्व-विजयका स्वप्न देखने लगे । उनके सामने सत्य असत्यका कोई प्रश्न कैसे उठ सकता था । (छायावाद युगने इसी महामानवकी उपासना शुरू की थी, इसीको अपना आदर्श माना था ।) स्पष्ट है कि वह वर्तमान मनुष्यके

यथार्थको अपना मान ही कैसे सकता था ? वह तो वर्तमान मनुष्यके सत्य और असत्यसे बहुत ऊपर, नैतिक मूल्योंसे सर्वथा परे एक ऐसा प्राणी है जो असत्यको भी एक सेतु मानता है—महत्त्वाकांक्षाका, सत्ता प्राप्त करनेका—जिसके लिए नैतिकताकी धुरी निरर्थक है। अन्ततोगत्वा वह मैकियावेली की ही शिष्य-परम्परामें हैं क्योंकि मैकियावेली और नीत्शेका आग्रह एक ही बातपर है—अन्तरात्माकी निरर्थकता। इसीलिए जो आज ध्वस्त मानवीय अन्तरात्माको पुनः स्थापित करना चाहता है उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह इस अवर्तमान महामानवकी प्रतिमाको तोड़नेका प्रयास करे क्योंकि वह झूठे मूल्योंकी जननी है, क्योंकि वह सामान्य मानवीय यथार्थ और मानवीय गौरवका निषेध करती है और अन्तरात्माके ध्वसावशेषोंपर अपनी महत्त्वाकांक्षाका प्रासाद खड़ा करना चाहती है।

विचित्र मनुष्य—नीत्शे शक्तिका उपासक था। पर मानवीय अन्तरात्माकी निरर्थकताकी उद्घोषणा एक दूसरे वर्गके चिन्तकों द्वारा भी हुई जो अपनेको सौन्दर्यका उपासक मानते थे। डिक्केंडेण्ट नामसे अभिहित किये जानेवाले ये लेखक और विचारक, सौन्दर्यानुभूति या सुखके एक क्षणको ही परम मानते थे और उनकी दृष्टिमें जीवनकी चरम सार्थकता यह है कि वह सुखानुभूतिके विभोर क्षणोंकी एक अटूट शृङ्खला बन जाय। इन सुखानुभूतिके ह्रासोन्मुख अन्वेषकोंके लिए नैतिक मूल्योंको प्रश्रय देनेवाली अन्तरात्माकी कोई सार्थकता नहीं थी। उनकी दृष्टिमें (आस्करवाइल्डके शब्दोंमें)—“कलाकार सुन्दर कृतियोंका निर्माता होता है” वे श्रेष्ठ हैं जिनके लिए सौन्दर्यका अर्थ केवल सौन्दर्य होता है। नैतिक या अनैतिक जैसी कोई कृति नहीं होती या कृतियाँ या कलात्मक होती हैं या कलाहीन। बस ! “किसी कलाकारमें कोई नैतिक मूल्यानुराग नहीं होता। नैतिक मूल्यानुराग लेखककी शैलीका एक अक्षम्य आडम्बर है।” इन ह्रासोन्मुखी सुखान्वेषी कलाकारोंने भी अन्तरात्माको एक निरर्थक वस्तु

मान लिया था और नैतिक मूल्योंके सम्बन्धमें चिन्ता करनेको ये कलाकार अक्षम्य अपराध मानते थे ।

किन्तु यदि हम इनकी मनोवृत्तिका सूक्ष्मतासे विश्लेषण करें तो हम पायेंगे कि किसी न किसी अशमे ये अपने युगकी नैतिक संकीर्णताओंके विरुद्ध विद्रोही थे और विद्रोहका जो रूप इन्होंने अपनाया था वह बड़ा ही विचित्र था । जैसे नीत्शेने गौरवको वर्तमान मनुष्यसे छीनकर उसकी प्रतिष्ठा आगामी महामानवमे कर दी और वर्तमान मनुष्य और उसकी अन्तरात्माको निरर्थक मान लिया, उसी प्रकार इन्होंने गौरवको केवल अपने कला-व्यक्तित्वमे स्थापित कर शेष समस्त मानव-समाजको उससे रहित कर दिया था । उन्होंने विच्छिन्न मनुष्यकी स्थापना करनी चाही जो समस्त सामाजिक सन्दर्भोंसे रहित अपनी एकान्त सुखानुभूतिमें गहरा डूबा हुआ अपनेमें ही पूर्ण है ।

इस राहमें एक खतरा था । वह मनुष्य जो अपनेको विच्छिन्न मानकर ही अपने गौरवकी रक्षा करता है, वह धीरे-धीरे इस परिणामपर पहुँचनेको विवश हो जाता है कि यदि उसे अपने गौरवकी रक्षा करनी है तो वह दूसरोंके गौरवके ह्रासके द्वारा ही सम्भव हो सकती है । इस प्रकार विच्छिन्न मनुष्यके गौरवका अर्थ है दूसरेके गौरवका क्षरण ! और इस प्रकार यह पद्धति भी हमें सामान्य मनुष्यके गौरवके ह्रासकी ही ओर ले जाती है ।

वस्तुतः मानवीय गौरवकी प्रतिष्ठा किसी एक व्यक्तिकी सुखानुभूति या उसके कलाव्यक्तित्वकी मौजकी समस्या नहीं है । अन्ततोगत्वा वह भी एक व्यापक सामाजिक तत्त्व है और इसीलिए यदि व्यापक मानवीय गौरवकी स्थापना हो सकती है तो उसी स्थितिमें कि समाजके प्रत्येक छोटेसे छोटे व्यक्तिके गौरवको वही महत्त्व दिया जाय जो बड़ेसे बड़े व्यक्तिको मिलता है । जब महामानव और लघुमानवका भेद कर एकके गौरवका बलिदान कर दूसरेके गौरवकी वृद्धि न की जाय । किसीको भी विशिष्ट मानव मान

कर चाहे वह आर्थिक आधारपर हो, चाहे सौन्दर्यानुभूतिके आधारपर, चाहे जातिके विकासके आधारपर, उसे सामान्य नैतिक धरातलसे परेका जीव मान लेना वस्तुतः व्यापक मानवीय गौरव और अन्तरात्माकी प्रतिष्ठाके विरुद्ध पड़ता है। उसकी स्थापना तो तभी हो सकती है जब हम सामाजिक समानताके सिद्धान्तको प्राथमिक मान्यता प्रदान करें, मनुष्य और मनुष्यको समान मानें, महाजनके समकक्ष लघुजनको रक्खें और दोनोंके लिए समान नैतिक मूल्य और समान अधिकार और समान गौरवकी घोषणा करें !

विकल्पहीन मनुष्य : संकल्पहीन मनुष्य—माक्सने इसी तत्त्वको पहचाना था और उसने जो दर्शन प्रतिपादित किया उसने उसमें स्पष्ट रूपसे यह कहा कि यह सारा दोष वस्तुतः इस व्यवस्थाका है जिसमें वर्ग-वैषम्यके कारण प्रत्येक मूल्य मिथ्या सिद्ध हो रहा है। स्वातन्त्र्य, गौरव, करुणा, सौन्दर्य और सुख, ये शब्द निरर्थक हैं, असंगतियोंसे भरे हुए हैं और केवल तभी इनमें अर्थकी प्रतिष्ठा हो सकती है जब समाजका वैषम्य दूर हो जाय और वर्ग-वर्गका भेद मिट जाय।

किन्तु वर्ग-वैषम्यके निराकरणके लिए माक्सने जो राह बताई थी, उसमें इतिहासकी द्वन्द्वात्मक गतिकी जो अनिवार्यता थी, उसमें पार्टीका जो अनियन्त्रित महत्त्व था और उसके आगे मनुष्यके निजी विकल्पकी जो निरर्थकता थी, उसने भी मनुष्यकी अन्तरात्माको व्यर्थ ही सिद्ध किया और किसी न किसी रूपमें 'नीति कौशल' को वर्गसघर्षके लिए अन्तरात्मासे अधिक महत्त्व प्रदान किया। साथ ही मनुष्यसे चिन्तन-स्वातन्त्र्य और विकल्पका आधार छीनकर, उसे इतिहासका नियन्ता न मानकर उसको गौरवसे रहित बनानेमें सफल हुआ। उसका परिणाम भी शीघ्र ही दृष्टि-गोचर हुआ और जिस आन्तरिक नैतिक असंगतिमें माक्सवाद उलझ गया, उसके कारण दिनोंदिन मानवीय गौरवकी प्रतिष्ठाके सूत्र उसके हाथोंसे छूटते गये। माक्सने इतिहासकी अनिवार्यताका माध्यम बनानेके प्रयासमें

वस्तुतः जिस विकल्पहीन मनुष्यकी सृष्टि की वह भी अन्तरात्मा और दायित्वकी भावनाको स्थापित नहीं कर पाया ।

यूरोपीय चिन्तनमें मार्क्सवादके बाद फ्रायडका महत्व है । जहाँ मार्क्सने बाह्य इतिहासकी द्वन्द्वात्मक गतिकी अनिवार्यताको स्थापित कर मनुष्यकी अन्तरात्माको व्यर्थ सिद्ध कर दिया था, वहाँ फ्रायडने मनुष्यके अन्तर्मनका विश्लेषण कर यह स्थापित किया कि वह तो न जाने किन अज्ञात दमित वृत्तियों, अचेतन आकांक्षाओंसे परिचालित होता रहता है । वह अपने अधिकांश कृत्योंका उत्तरदायी ही नहीं है क्योंकि वह उनको चेतन स्तरपर करता ही नहीं । उसका संकल्प मिथ्या है क्योंकि वस्तुतः उसके तर्क उसके विवेकसे प्रेरित नहीं हैं । वे तो उसकी अचेतन आकांक्षाओंसे प्रेरित हैं । सद्-असद्का विचारकर वह सकल्प करता ही नहीं है—कर ही नहीं सकता—वस्तुतः वह संकल्पहीन मनुष्य है, वह अचेतन वृत्तियों द्वारा परिचालित एक मशीन मात्र है । इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त यूरोपीय चिन्तनने किसी न किसी रूपमें किसी ऐसे तत्त्वको स्थापित किया है जिसकी आधार-शिला विवेक और अन्तरात्माका अभाव है । कभी उसने रहस्यके नामपर अविवेक और असंगतिको एक प्रभा-मण्डलसे आच्छादित करनेका प्रयास किया, कभी उसने किसी आगामी महामानवके अवतरणकी कल्पनाकर इस असंगतिको उसके लिए आवश्यक मानकर उसका औचित्य सिद्ध करनेका प्रयास किया, कभी मानवीय गौरवका गलत अर्थ लेकर मनुष्यकी सभीसे विच्छिन्न स्थितिकी भ्रान्तिको प्रश्रय दिया, कभी “भविष्यके समाजमें मानवीय गौरव स्थापित हो सकेगा । इसलिए आज उसका अभाव है तो होने दो”—ऐसे तर्क दिये । और कभी मनुष्यको मूलतः बर्बर असंस्कृत पशु मानकर उसकी पाशविक अचेतन वृत्तियोंको ही सर्वोपरि मान्यता प्रदान की । ये सभी पद्धतियाँ अन्तरात्मा की व्यर्थता सिद्ध करती गयीं, और परिणाम यह हुआ कि एक दिन मनुष्य

ने अपनेको सिटवेलकी पंक्तिके अनुसार “जीसस् और उसकी खाईके बीचोबीच लटके हुए पाया, जहाँ संसारका अन्त हो जाता है।”

क्रम और क्रम भग्न मनुष्य—सिटवेल, ईलियट और न जाने कितने कवियों और लेखकोंने इस संसारका अन्त होनेकी जो धारणाएँ कीं उसका ऐतिहासिक सन्दर्भमे एक विशेष अर्थ था। एक ओर मूल्योंका सम्पूर्ण विघटन था और दूसरी ओर मनुष्यमें नूतन मूल्यान्वेषणका साहस और चेतना दोनों समाप्त होती जा रही थी। इस प्रकार चेतनाकी वह परिधि जो संसार है वस्तुतः पूर्णतया विष्टुंखल और विघटित हो गया था और उसका केन्द्रविन्दु मनुष्य अन्दरसे बिल्कुल रिक्त था। अपने गौरव और अपनी सार्थकताकी प्रतिष्ठा और रक्षणके प्रति उसकी यह संवेदना जिसे हम अन्तरात्मा कहते हैं वह भी इस नये परिवेशमें निश्शक्त और अक्षम थी।

यह नहीं कहा जा सकता कि जैविक विकासके नियम अन्ततोगत्वा अन्तरात्मापर भी लागू होते हैं या नहीं, पर न उड़नेके काम आनेवाले पक्षोंकी भाँति अन्तरात्मा भी अन्तमे चाहे संकुचित अक्षम हो जाये पर वह केवल शोभा बन कर नहीं रह जाती। वह अन्दर ही अन्दर विक्षुब्ध होती रहती है, कसकती रहती है, अन्दर जाकर चक्कर खाने-वाली गोलियोंकी तरह यह समस्त मानवीय संस्कृतिके अन्तरालको छिन्न-भिन्न कर डालती है। इस आन्तरिक और बाह्य सक्तोंके द्विविध पाटोमें पिसा हुआ मनुष्य कभी टूटे साधनोंसे गौरवकी तुष्टि करनेकी प्रवचनामे भटकने लगता है, कभी गलत समझौते करता है और उसकी समस्त गतिसे प्रेरित एक अन्दरसे रिक्त प्राणीकी गति बन जाती है, उसका जीवन अन्तरात्मा द्वारा सुनियोजित, नैतिक मूल्यों-द्वारा मर्यादित, निजी गौरव द्वारा सशक्त और सार्थक न रहकर—उत्तेजित आवेशपूर्ण क्षणोंकी एक असम्बन्ध और असगत विष्टुंखल क्रमभंगता बनकर रह जाता है।

संसार संसरणशील है, क्रम-प्रवाह ही उसकी वास्तविक प्रकृति है अतः

इस क्रमभग्नताका उल्लेख बार-बार यदि पश्चिमी लेखक 'संसारके अन्तको प्रतीक बनाकर करता है तो यह स्वाभाविक ही है।' अन्तरात्माकी धारणा इस क्रमभग्नताके सर्वथा विरुद्ध है। वह कारण-कार्य दायित्व और नियतिकी सुसम्बद्धताको स्थापित करती है। मनुष्यमें विवेक दृष्टि होनी चाहिए, विकल्पकी स्वतन्त्रता होनी चाहिए, संकल्पकी क्षमता होनी चाहिए, अपने विवेकके अनुसार आचरण उसे करना चाहिए, अपने आचरणके प्रति वह उत्तरदायी होता है और इस प्रकार वह अपनी नियतिका निर्माण करता चलता है। किन्तु इस क्रमभग्नताके दौरमें स्थिति बिल्कुल विपरीत होती है, निरर्थक विश्रृंखल क्षणोंका एक सीमाहीन सैलाब मनुष्यके चारों ओर है, मनुके जलप्लावन जैसा, और उसमें चारों ओर जो भी बहाव है वह उसे कहीं ले नहीं जाता, इधरसे उधर थपेड़े देकर बहाता रहता है, तोड़ता रहता है। सैलाबमें बहकर जो भी आता है वह उसे छूता हुआ, घायल करता हुआ, डँसता हुआ निकल जाता है, उससे मनुष्यका कोई मूल्यवान सम्पर्क नहीं बन पाता, अपने चारों ओरकी इस असम्बद्ध, निरर्थक उथल-पुथलमें सारे सन्दर्भ टूट जाते हैं। एक अस्पष्टताकी कुहेलिका उन्हें आच्छन्न कर लेती है, वस्तुतः मनुष्यके अन्दर न अन्तरात्मा रह जाती है जो संसारका मूल्यांकन कर सके और न उसके बाहर कोई व्यवस्था रह जाती है जिसका मूल्यांकन किया जाय। ऐसा लगता है जैसे एक शून्य दूसरे शून्यके सैलाबमें फँस गया हो।

इस आन्तरिक और बाह्य क्रमभग्न मनुष्यकी समस्यापर विचार करते हुए मैक्स पिकार्डने इसके—कुछ बहुत महत्वपूर्ण पक्ष उद्घाटित किये हैं। जर्मनीमें नाजीवादके उदयपर विचार करते हुए उसने स्पष्ट कहा है कि ऐसा भयानक अमानुषिक जीवन-दर्शन पनप नहीं सकता था यदि मनुष्य क्रमभग्न होकर अन्तरात्मारहित न हो गया होता। केवल ऐसे सन्दर्भहीन, मूल्यहीन व्यवस्थाहीन परिस्थितिमें ही हिटलर जैसा 'सारहीन व्यक्ति' इतना बड़ा अधिनायक बन सकता था। इस सैलाबमें हरेक चीज हमारे

सामने आती है, विना किसी पूर्ण सन्दर्भके, विना किसी भावी अर्थके—और जिस क्षण वह हमारे सम्मुख आती है, चूँकि हम शून्य हैं अतः हमें पूर्ण रूपसे उस समय भर देती है और दूसरे ही क्षण जब वह व्यतीत हो जाती है तब हम फिर शून्यके शून्य रह जाते हैं। ऐसी स्थितिमें अन्तरात्माको आबद्ध रखनेवाली स्मृतिका पूर्ण विनाश हो जाता है। मनुष्यके अन्तरमें उसके अतीतका कुछ भी शेष नहीं रहता। दर्पणकी भाँति सामनेसे हटनेपर परिस्थितिकी छाया भी उसपरसे हट जाती है, वह धुलपुँछकर फिर शून्यका शून्य रह जाता है, वह भयानकसे भयानक दुष्कर्म करता है और उसके बाद फिर उसकी आत्मा विस्मृतिकी अथाह खाईमें डूब जाती है। उसे कुछ भी याद नहीं रहता। मैक्सपिकार्डके ही शब्दोंमें—“नाज़ीवादकी भयानकता उसका अत्याचार या उसकी हत्यावृत्ति नहीं है, बल्कि हत्या और अत्याचार भी तुरन्त भुला दिया जाता है। जो नाज़ी कल यहूदियोंको गैस-चैम्बरमें डालकर उनका दम घोट रहा था, सम्भव है आज वह डाक-खानेकी खिड़कीपर बैठकर डाकटिकट बेच रहा हो—और अपने कलके वधिक रूपको बिलकुल भूल चुका हो। यह नहीं कि अब वह सुधर गया है। वह कल फिर हत्या कर सकता है। जो अन्दर-बाहर सब शून्य है वहाँ मानव-जीवनका महत्त्व भी शून्य ही हो जाता है। यह सारा अमानुषिक व्यापार भुला दिया जाता है—हृदयकी विराटताके कारण नहीं, बल्कि उस शून्यकी विराटताके कारण जिसमें सब कुछ सोख लिया जाता है। (‘हिटलर इन अव सेल्बज़’)।

नाज़ीवादकी मनोभूमिके इस विश्लेषणसे अकस्मात् मुझे याद आ गया कि पिछले दिनों ‘धुरीहीनता’ शीर्षक लेखसे क्षुब्ध होकर किसीने, जहाँतक मुझे याद आता है शायद मेरे आदरणीय तथा प्रिय मित्र नलिनविलोचन जीने लिखा था कि साहित्यकारको किसी प्रकारकी भी सगति का विरोध करना चाहिए, और—शब्द तो याद नहीं, आशय यह था कि सर्वथा असंगत और परस्पर विरोधी बातें करना उसका अधिकार है। इसी प्रसंगमें

उन्हें शायद घुरी शब्दसे फासिस्ट राष्ट्रोंकी भी याद आगई थी । यदि उनकी इस सलाहको साहित्यकार मानकर चले तो वह सचमुच फासिस्ट या नाज़ीके कितना निकट पहुँच जाय जिसका वर्णन ऊपर मैक्सपिकार्डने किया है । आगे और भी इस अन्तर्विरोधपूर्ण असंगत फासिस्टका विश्लेषण करते हुए वह कहता है—“इस खण्डित यांत्रिक जगत्में—यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं कि गेस्टापोका सरदार हिमलर बाख्का कुशल व्याख्याकार था या चेकास्लोवेकियाका जल्लाद नाज़ी हैड्रिल संगीत-कक्षमें मोज़ार्टका संगीत सुनकर सिसक-सिसककर रोया करता था । वध और संगीत, गैस-यन्त्रणालय और संगीतकक्ष दोनों साथ-साथ । वही कक्ष है—अभी संगीतकी लहरियोंसे गूँजता हुआ, अभी मृत्युकी हिचकियोंसे कम्पित । गैस खोलकर क़ैदियोंको घोटकर मार डालनेके पहले मोज़ार्टके संगीतमें क़रुणा-विभोर वधिक, या नाज़ी भेदियेकी थैलीमें होल्डरलिनकी कविताएँ यह केवल उसी संसारमें सम्भव है जहाँ वस्तुएँ अपनी संगतिमें स्थित नहीं हैं वरन् खण्डित और विघटित हैं ।” केवल एक शून्य क्षण मात्र सत्य है । यह सोचना व्यर्थ है कि उसकी पूर्ति कौन कर रहा है—हत्या या बाख़, गैसका ज़हर या होल्डरलिनकी कविताएँ । “यहाँ संगीत और हत्याकी संगति नियमके विरुद्ध नहीं है—वस्तुतः वही संसारका नियम (?) बन चुकी है ।”

अन्तरात्माके पूर्ण विघटनके बाद, असंगति ही जगत्का नियम लगने लगती है, तथा विवेक और दायित्व, संगति और क्रमबद्धतासे पूर्णतया मुक्त होनेका वैसा ही आग्रह उठने लगता है जैसा नलिनविलोचन जीकी टिप्पणीमें मिलता है । इसका कारण यह है कि “नाज़ी विना यथार्थवाला मनुष्य होता है । वह किसी यथार्थ, किसी देश या किसी व्यक्तिको पदाक्रान्त कर सकता है, उसे दबोच सकता है, पर विघटित और क्रमहीन होनेके कारण उसे आत्मसात् नहीं कर सकता अतः उसे नष्ट कर देनेकी कोशिश करता है ।” और इसी यथार्थसे रहित व्यवस्थामें उस प्रकारके मनोभावों-

का उदय होता है जो अन्दरसे शून्य हैं क्योंकि शून्यमें पनपे हैं—“एक विराट् शून्यमेसे कहीं कोई चीख उठता है, यह नहीं पता चलता कि (सेनानी या अनुयायी)—और तुरन्त हथियार उठ जाते हैं, (यह नहीं पता चलता कि) आक्रमणमें या आत्मरक्षामें ! और इन हिटलरों और गोबेल्सों की यह चीख सिर्फ़ भीड़के लिए नहीं होती, उनके अपने लिए भी होती है, मानो एक खाली कनस्तर, यह भुलानेके लिए कि वह नहीं है, अयथार्थ है, जोरसे खड़खड़ाने लगे कि मैं हूँ ! मैं हूँ ! इस नाज़ीवादमें शून्य यह जानते हुए कि वह नहीं है, चीख-चीखकर कहता है कि उसका अस्तित्व है । और इस विराट् अव्यवस्थामे कोई भी महामानवोंकी श्रेणीमें अपना स्थान बना सकता है, एडोल्फ हिटलर तक ।’

पर यह महामानव भी अन्ततोगत्वा उस विराट् शून्यकी ही केन्द्रीभूत अभिव्यक्ति है जिसका नियम (?) ही असंगति है । परस्पर विरोधी धर्म केवल शून्यमें रह सकते हैं इसका प्रतिपादन तो शून्यवादके प्रवर्तक नागार्जुन तकने किया था । “प्रतीत्यसमुत्पाद”की प्रणाली और है ही क्या ? पर कठिनाई यह है कि जहाँतक सृजन और साहित्य-रचनाका प्रश्न है जो क्रमहीन और असंगत है, वह भाषाकी शक्तिका उपयोग नहीं कर सकता । भाषाका आधार ही आन्तरिक संगति है, एकसूत्रता जो कर्ताको क्रियासे आबद्ध करती है, क्रियाको कर्मसे आबद्ध करती है । जहाँ जीवनमें विघटन हुआ कि भाषा भी उसी विघटनको प्रतिबिम्बित करने लगती है ।

सृजनका क्षण

सृजनका क्षण वस्तुतः इस रिक्तता, विघटन, और विच्छिन्नताके क्षणसे बिलकुल पृथक् होता है । उसमें हम क्षणको एक सगति, एक अर्थ, एक क्रम प्रदान करते हैं । झूठी शाश्वतता और निश्चयात्मकताके अन्ध-विश्वासपूर्ण आश्वासनोंका तिरस्कारकर हम मानवीय गरिमाकी प्रतिष्ठा और मानव-मूल्योंकी खोज और उन्हें आत्मसात् करनेकी प्रक्रिया द्वारा

क्षणको अर्थवान् बनाते हैं। वे जो ये सोच लेते हैं कि मानव मूल्योंकी खोज एक बार हो चुकी है, वे प्रतिष्ठित हो चुके हैं, अब हमें क्या करना है—वे अन्तरात्माको भुला देना ही सुविधाजनक मान लेते हैं, फलस्वरूप वे कभी भी सृजनके क्षणोंका साक्षात्कार नहीं कर पाते। वे जो यह सोच लेते हैं कि मानवमूल्योंकी वास्तविक प्रतिष्ठा आज हो ही नहीं सकती, वह तो भविष्यकी किसी समाज व्यवस्थामें होगी अतः आज हम जो कुछ भी मानव विरोधी करें वह सर्वथा उचित है, संगत है—वे भी अन्तरात्माको आगेके लिए स्थगित कर देते हैं। दोनों ही वर्तमानके प्रति अपने दायित्वसे भागते हैं। वस्तुतः मानवीय गरिमाकी प्रतिष्ठा प्रत्येक क्षण हो सके, यही हमारा दायित्व है। पूर्वजोंने किया था, या भावी पीढ़ियाँ उसे करेंगी, अगर इस आशामें हम वर्तमानको विवेकहीन, असंगत क्रमहीन क्षणोंका एक विराट जलप्लावन बना देते हैं तो इस अन्तरात्माका पुनर्निर्माण कभी भी नहीं हो पायेगा। वस्तुतः मानवीय गरिमाके प्रति संवेदनाजन्य अन्तरात्मा की पुनः प्रतिष्ठाका एक वेदनापूर्ण दायित्व है जिसका निर्वाह हमें प्रतिक्षण करना पड़ता है। वे ही अर्थवान् क्षण हैं, आत्मोपलब्धिके क्षण हैं, आत्मोपलब्धिके—क्योंकि उन्हींमें हम अपनेको पाते हैं—अर्थात् अर्थहीन शून्यता या अयथार्थ मूलक अनस्तित्वसे मुक्त कर अपनेको सार्थक पाते हैं।

यह आत्मोपलब्धि डिकैडेंट कलाकारोंकी उस आत्म-रतिसे बिल्कुल पृथक् है जो मानवीय गरिमाको केवल अपनेमें केन्द्रित मानती है, और सभीसे विच्छिन्न होकर अपने ही गौरवकी रक्षामें तल्लीन रहती है। और उस गौरवकी स्थापनाके लिए कभी मात्र सुखकी खोजमें तल्लीन रहती है या अपनी असंगतिको अपनी वैयक्तिकता मानने लगती है। यह आत्मोपलब्धि रहस्यवादियोंकी उस साधनासे भी पृथक् है जिसमें वे ये मानते हैं कि सामान्य मनुष्यकी नियतिसे उसे क्या लेना देना, वे तो उसका अतिक्रमण कर सीधे किसी विराट् ब्रह्मसे साक्षात्कारकर उसीमें पूर्णत्वकी प्राप्ति कर लेंगे। मानवीय गरिमाकी वास्तविक प्रतिष्ठाके लिए 'समानता' की शर्त,

पहली शर्त है। कोई भी दूसरेसे बड़ा नहीं है, यदि किसीकी भी गरिमामें हमारी गरिमा बाधक है, तो हम किसी अयथार्थ धरातलपर खड़े होकर वस्तु-स्थितिका आकलन कर रहे हैं। नैतिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, तमाम धरातलोंपर इस समानताकी स्थापनाके लिए निरन्तर संघर्षशील रह कर ही इसकी स्थापनाका प्रयास हो सकता है। मानवीय गरिमाकी प्रतिष्ठाकी एक शर्त यह भी है कि हम मानवमात्रकी नियतसे अपनेको आबद्ध समझें। केवल निजी मुक्ति या सामान्य मानवीय नियतिका अतिक्रमण कर सीधे किसी अलौकिक सत्तासे साक्षात्कार कर पूर्णता प्राप्त करनेकी 'साधना' भी अन्तरात्माके क्षरण और सामान्य मानवीय गौरवकी उपेक्षाका द्योतक है। साथ ही वे समस्त सिद्धान्त जो मानव-नियतिको पूर्वनिर्धारित मानते हैं वे मनुष्यसे विकल्पकी स्वतन्त्रता और संकल्पकी गरिमा छीन लेते हैं। क्यों फिर मनुष्यके अपने निर्णयका कोई महत्त्व नहीं रह जाता है, अपने विवेक की कोई सार्थकता नहीं रह जाती—वह केवल भारवाही पशुकी भाँति जुएमे कन्धे डालकर ही अपना सहयोग दे सकता है। इसलिए बार-बार इस बातपर बल देना आवश्यक है कि—“नियति नहीं है पूर्वनिर्धारित, उसको प्रतिक्षण मानव निर्णय बनाता-मिटता है।” (अन्धायुग) हम अपनी अन्तरात्मासे निर्देशित होकर अपने विवेकपूर्ण आचरणके द्वारा जिस अंशतक उस नियतिका साक्षात्कार करते हैं उसी अंश तक मानव नियति वास्तविक होती है। इसलिए प्रगतिकी जो धारणा पिछली दो-तीन शताब्दियोंसे प्रचलित रही है वह आजके सन्दर्भमें सार्थक नहीं हो सकती। उन धारणाओंके अनुसार प्रगति एक ऐसी प्रक्रिया है जो हमारे बाहर, हमसे स्वाधीन घटित हो रही है। या तो हम उस प्रक्रियाके साथ हैं, और यदि साथ नहीं हैं तो उसमें बाधक हैं, उसके विरोधी शिविरमें हैं। यह एक खण्डित युद्धजन्य दृष्टि है जिसकी मूल प्रेरणा है राजनीतिक उपयोगितावाद। सृजन, साहित्य और संस्कृतिके क्षेत्रमें प्रगतिकी धारणा अन्ततोगत्वा आन्तरिक ही हो सकती है। प्रगति (नियतिका क्रमिक

साक्षात्कार) हमसे निरपेक्ष नहीं है। वह हमसे आबद्ध है, उसके निर्णायक तत्त्व हम ही हैं। इसीलिए प्रगतिके प्रसङ्गमें, समानताकी स्थापना और मानवीय गरिमाकी प्रतिष्ठा 'अन्योन्याश्रित हैं, अविच्छिन्न मूल्य हैं। इसे समझकर इसी दिशामें अन्तरात्माकी पुनर्प्रतिष्ठा इस आसन्न संकटसे मानव-मात्रका उद्धार कर सकती है। विवेक और साहसका यह मार्ग थोड़ा दुस्तर अवश्य है, किन्तु इसके अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं। बाकी सब पश्चिममें झूठे पड़ चुके हैं।

अवरुद्ध सृजनात्मकता : पुंस्त्वहीन नायक और सामाजिक अयथार्थ

अन्तरात्माके ध्वंसके कारण मानवीय तत्त्वमे जो सर्वांगीण विघटन समुपस्थित था उसका एक पक्ष यह भी था कि मनुष्य अपनेको सृजन और निर्माणके लिए असमर्थ पाता था। उसकी आन्तरिक कुण्ठा और बाह्य सीमाएँ इस सीमा तक उसे पंगु और क्लीव बना रही थीं कि नियतिका साक्षात्कार करनेमें अग्रसर होना तो दूर—वह अपनी निर्वीर्यताका ही करुणाजनक उद्घोष और लज्जाजनक प्रदर्शन करनेके लिए विवश था। परिणाम यह हुआ कि सृजनात्मकताका ह्रास होता गया और दिनोंदिन मानवीय तत्त्व अनुर्वरता, अवरोध और निष्क्रियताका शिकार बनता गया।

नये सृजनकी इस असमर्थताका सबसे स्पष्ट आभास हमें कथा-नायकोंमें मिलता है। वास्तवमें कथा-नायक अपने-अपने समयके स्वीकृत समाजव्यापी प्रतिमानोंके प्रतीक रहे हैं और ज्यों-ज्यों परम्परागत प्रतिमानोंमें अनिश्चय, विघटन और ह्रास आता गया, त्यों-त्यों कथानायक भी पंगु, क्लीव और पुंस्त्वहीन होते गये।

कथा-नायकोंके माध्यमसे यह जो संस्कृतिका आसन्न संकट प्रतिभासित होता है, इसके द्विविध कारण थे—बाह्य और आन्तरिक। आन्तरिक कारणोंपर हम विचार कर चुके हैं अब बाह्य-व्यवस्थाके अन्तर्गत पूँजीवाद-के उदयने किस प्रकार मानवीय तत्त्वके इस क्रमिक विघटनको लानेमें मदद की इसपर हम विचार करेंगे।

१९ वीं सदीके उपन्यासोंमें हमें संघर्ष मिलता है, लेकिन उसमें हमें

विजयघोषकी प्रतिध्वनियाँ भी मिलती हैं। उन्नीसवीं शतीमें उपन्यासके क्षेत्रमें फ्रांस अग्रणी था। फ्रान्सीसी कलाकारोंने धूमकेतु जैसे ज्वलनशील, चट्टान जैसे कठोर और दानवों जैसे अदम्य शक्तिशाली नायकोंका निर्माण किया, ह्यूगोके 'नात्रीदेम'का कुबड़ा 'क्रासीमीडो' और 'ले मिज़राब्ज' का जा वाल्ज़ाँ अद्भुत चरित्र है। यदि उनमेंसे एक, अकेला चर्च, पेरिसके डाकू, चोर और जिप्सी तथा, फ्रांसकी समस्त राज्यसत्ताका मुकाबला करनेमें समर्थ था तो 'ले मिज़राब्ज'का नायक, स्वयम् एक पुराना पापी होते हुए भी जीवनके समस्त सघर्ष, घात-प्रतिघात, धृणा और प्रतिहिंसा के ऊपर प्रेम और मानवताकी विजय घोषित करनेमें समर्थ था। बाल-जाकके 'फादर गोरियो'का नायक पेरिसके कब्रिस्तानपर खड़े होकर सारी सामन्तवादी और पूँजीवादी संस्कृतिको चुनौती देनेका साहस रखता था। स्टेण्डलका किशोर नायक अपने विकृत जीवनकी प्रतीक नायिकाको बड़े साहससे जीवनसे निकाल फेंकता है, ज़ोलाके उपन्यासोंमें हमें बार-बार क्रान्तिका निर्घोष सुनाई पड़ता है और उसके 'जर्मिनाल'के पात्र नयी दुनियाके सृजनमें संलग्न हैं। ब्रिटिश उपन्यासकार यद्यपि न तो उतने शक्तिशाली थे, जितने फ्रांसीसी, और न उतनी गहराई तक ही उतर पाते थे, फिर भी डिकेन्स आदिमें मानवताकी पराजयके स्वरोँका आभास भी नहीं था। लेकिन आजके उपन्यासोंके नायक बिलकुल दूसरी ही तरहके जीव हैं। उनमें न साहस है, न शक्ति, न विध्वंस है न सृजन; न उनमें चुनौती देनेकी हिम्मत है न चुनौती स्वीकार करनेकी। जैसा कि ब्लैकमूरने कहा है;

“इनमें विद्रोहका ठीक-ठीक सिलसिला नहीं जम पाता। इसकी बजाय परेशानीकी भावना जोर पकड़ती जा रही है। निराशाकी अनुभूतिका चित्रण अधिकाधिकके साथ हो रहा है, और कष्ट भरी परिस्थितियोंके गुम्फनकी प्रवृत्ति बढ़ रही है। हमारी कृतियोंके नायकका स्थान क्लीव, पंगु या विकृत-मना व्यक्तियों अथवा स्वयं कलाकारने ले लिया है।”

इस वक्तव्यका अन्तिम वाक्य न केवल पाश्चात्य उपन्यास वरन् हिन्दी उपन्यासोंपर भी लागू होता है। यशपालके 'दादा कामरेड' और 'देशद्रोही'का नायक हो या 'अज्ञेय'के 'शेखर'का, जैनेन्द्रकुमारकी 'सुनीता' का या इलाचन्द्र जोशीके 'निर्वासित'का—अपने-अपने ढंगसे हर एक 'क्लीव, पंगु, विकृत-मना या स्वयं कलाकार है।

यदि हम ध्यानसे इतिहासके पन्ने उल्टें तो हम देखेंगे कि विश्व-उपन्यास और पूँजीवादका विकास लगभग समान्तर ही चला है। अठ्ठारहवीं शतीके उत्तरार्द्धमें ही पूँजीवादी और आधुनिक उपन्यास, इन दोनोंके बीज पड़े। सामन्तवादकी तुलनामें उस समय पूँजीवादी विचारधाराएँ मानवताको अधिक ग्राह्य मालूम पड़ीं। पूँजीवाद भी उस समय विकासकी नयी दिशाएँ प्रदान कर रहा था, और गतानुगतिक अन्धपरम्पराओसे निकालकर विश्व संस्कृतिकी एक नये स्तरपर स्थापना कर रहा था। चूँकि उसे मशीन और नये आविष्कारोंकी ज़रूरत थी अतः वह विज्ञानका हामी था, चूँकि अपने कारखानोंमें स्वतन्त्र मजदूरोंकी आवश्यकता थी अतः वह सामन्तवादी गुलामीके खिलाफ़ वैयक्तिक स्वतन्त्रताका पक्षपाती था। चूँकि उसे मशीनोंके साथ काम करनेके लिए पढ़े-लिखे मजदूरोंकी ज़रूरत थी अतः वह शिक्षा-प्रसारमें संलग्न था साथ ही साथ आरम्भमें उसका शिकंजा इतना मजबूत नहीं हुआ था कि व्यक्ति अपनेको इतना बेबस और लाचार महसूस करता और अपनी परिस्थितियोंपर बिलकुल क़ाबू खो बैठता। उस समय मनुष्य यह समझ रहा था कि वह अन्धेरेमेंसे निकलकर एक नयी संस्कृतिका निर्माण कर रहा है, उसने सही रास्ता ढूँढ़ निकाला है, कुछ ही शताब्दियोंकी देर है और उसके बाद वह सत्य का विजेता हो जायेगा। इन्हीं कारणोंसे तत्कालीन उपन्यासोंमें पुरुषत्व का ओज, नये सृजनका विश्वास था। वह रोमाण्टिसिज़्मका युग था और व्यक्तिके आधारपर विश्व-संस्कृतिका सपना बुना जा रहा था। यद्यपि

व्यक्ति और उसकी परिस्थितियोंमें संघर्ष उठ खड़े हुए थे, मशीनोंकी फौलादी निर्जीवता भी मनुष्यकी आत्मामें प्रवेश कर रही थी, लेकिन अभी पूँजीवादी चक्रकी निर्ममता इतनी तीखी नहीं हुई थी कि साहित्यकी आत्माको झकझोर दे। डिकेन्सके अधिकांश पात्र यद्यपि शैशवमें निर्धन और निम्न वर्गके थे लेकिन परिस्थितियोंसे लगातार संघर्षके बाद वे किसी तरह उच्चवर्गमें स्थान पा जाते थे और उपन्यासोंका सुखमय अन्त हो जाता था। इस प्रवृत्तिका सबसे कलात्मक निर्वाह विक्टर ह्यूगोके 'ले मिजराब्ज'में हुआ था। इस अन्तर्विरोधका समाधान एक सहज मानवता और करुणा भावना तथा आत्म-त्यागसे हो सकता है, उसका ऐसा विश्वास था।

लेकिन व्यक्ति और व्यवस्थाके इस भयानक अन्तर्विरोध और उसके फलस्वरूप मानव आत्मामें पैदा होनेवाले विकारोंका सबसे पहला मर्मस्पर्शी चित्रण हमें बालजाकमें मिलता है। वह स्वयं निम्नवर्गका था, एक वकील का मुहर्रिर था, वह जानता था कि रुपयेके आधारपर चलनेवाला वह जीवन-संघर्ष इस समय मानव स्वभावकी समस्त विकृतियोंको उभाड़कर सामने ला रहा है। उसके अधिकांश पात्र रुपयेके लिए किसी तरहका नीच से नीच अपराध करनेमें नहीं हिचकते, उनकी आत्मामें पाशविकताका आवेश आ चुका है, जीवन-संघर्षने उन्हें स्वार्थी और खूँखार बना दिया है। यह प्रतिहिंसा, विकृति निर्माता, स्वार्थ और पाशविकता, सभी पूँजीवादी शोषणकी प्रतिक्रियाएँ थीं। पूँजीवादने मानवीय सम्बन्धोंका आधार पारस्परिक प्रेम और सहयोग नहीं रहने दिया। उसने धन संचयको ही प्रमुख स्थान दिया। और अब व्यक्तिकी स्वतन्त्रताके आन्दोलनका अर्थ समझमें आने लगा। उसने व्यक्तिको इसीलिए स्वतन्त्र किया था, ताकि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिका शोषण कर सके, दूसरा व्यक्ति भी तीसरेका शोषण कर सकनेमें समर्थ बन सके। आपसका सहयोग और सहानुभूति नष्ट होकर सभी भूखे जानवरोंकी तरह एक दूसरेपर अपने

दाँतोंकी तेजीकी आजमाइश कर सकें। ईश्वरकी जगह मशीनोंने ले ली थी और प्रेमकी जगह रुपयेने।

यह एक गुनाह था। भयानक पाप जो मानव आत्माके विरुद्ध दिन प्रतिदिन किया जा रहा था। परिणाम-स्वरूप तत्कालीन उपन्यासोंमें भी अपराधी पात्रोंकी बहुलता थी। कुछ उपन्यासकार ऐसे भी थे जिन्हें इन गुनाहोंमें ही स्वाद आने लगा था जो इन्हींको एक जीवन-दर्शनकी ऊँचाई तक ले जाना चाहते थे। इन उपन्यासकारोंको ह्लास-शील, डिकैडेंटके नामसे पुकारा गया, यद्यपि गाटियेर, फ्लाबेयर, मोपासाँ और आस्कर इन सबोंमें पूँजीवादी संस्कृतिके प्रति बेहद अरुचि और घृणा थी, लेकिन इनका विरोध समन्वयात्मक नहीं था और उसमें आत्म-रतिकी मात्रा बहुत अधिक थी। पर जैसा संकेत किया जा चुका है वे 'विच्छिन्न' लेखक थे और समस्त मानवतामें समानताकी प्रतिष्ठा न कर मानवीय गौरवकी एकान्त प्रतिष्ठाका स्वप्न देखते थे। फिर भी फ्लाबेयरके पत्रोंमें जगह जगह पूँजीवादके विरुद्ध भयानक घृणाका आभास मिलता है। एक पत्रमें तो उसने लिखा—“तीन दिनसे मेरे सीनेपर जैसे कुछ इकट्ठा होता जा रहा है। शायद बलगम हो। या शायद वह एक अदम्य और तीखी घृणा है जिसे अगर मैं इस सम्पूर्ण पूँजीवादी व्यवस्थापर थूक सकूँ तो मुझे बहुत चैन मिले।” मोपासाँने भी बड़ी निर्भयतासे उच्चवर्गीय नैतिकताका पर्दाफाश किया और आस्करवाइल्डका एकमात्र उपन्यास “पिक्चर आफ डोरियन ग्रे” स्वयं उसकी योजनाके विरुद्ध उसके समस्त जीवनकी एक कड़ी आत्म-विश्लेषण पूर्ण आलोचना बन गया और उसका भी अन्त एक गम्भीर नैतिक स्तरपर हुआ। पर जैसा मैंने पहले कहा कि इन डिकैडेंट उपन्यासकारोंके नायक यद्यपि काफ़ी आकर्षक थे, उनमें आवेश था, लेकिन वे बाह्य-जीवन और सामाजिक सन्तुलनके स्तरपर न उठकर केवल आत्मरतिमें ही तल्लीन रहे अतः उनमें वह सृजनात्मक चेतना बिलकुल विनष्ट हो गई। उसका सबसे गम्भीर प्रतीक हमें मोपासाँकी मौतमें मिलता है। मोपासाँ रोज

अपना चेहरा शीशेमें देखता था। एक दिन अपने भयानक अन्तर्द्वन्द्वके क्षणोंमें उसे लगा कि उसकी छाया शीशेसे गायब हो गयी है और उसी दिन वह पागल हो गया। यह घटना इन डिकैडेंट कलाकारोंकी मनोवृत्ति की पूर्ण परिचायक है। वे सभी चीजोंमें अपनी प्रतिच्छाया ढूँढ़ते फिरते थे। बाह्य सत्यको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य उनमें नहीं थी। और यही शक्तिके ह्रास, पतन, आत्म-विश्वासकी कमी, बेबसी और पुंस्त्वहीनताकी ओर विश्व-उपन्यासोंका पहला कदम था। और पुंस्त्वहीनताकी ओर इस पहले कदमके साथ ही साथ हम बीसवीं शतीमें कदम रखते हैं।

जैसा हम पहले संकेत कर चुके हैं कि इस लाचारी और बेबसीका मुख्य कारण यह था कि मानवता पूँजीवादके आश्वासनोंपर अपना विश्वास खो बैठी थी, उसका दम पूँजीवादी शिकंजेमें घुट रहा था लेकिन वह विद्रोह कर पानेमें सर्वथा असमर्थ थी। उसमें केवल एक नपुंसक गुस्सा था, एक बेवसी और लाचारीकी खीज, जो बेहद कटु होती है, बेहद तीखी होती है, लेकिन सृजनात्मक बिल्कुल नहीं होती। १९वीं शती और २०वीं शतीकी संक्रान्तिके जो उपन्यासकार डिकैडेंट नहीं थे उसमें भी असफल असन्तोषकी कटुता और निश्शक्त असमर्थता मिलती है, यह बात दूसरी है कि हार्डी चूँकि अत्यधिक भावना-प्रवण और सुकुमार था अतः उसने इस लाचारीको भाग्यवादके रूपमें रखा हो, और अनातोल फ्रांस चूँकि बड़ा ही गहरा बुद्धिवादी था अतः उसने इस कटुताका इज्जहार जीवनके समस्त आदर्श और गहराइयोंका मखौल उड़ानेवाली शैलीके रूपमें किया हो, लेकिन यह स्पष्ट था कि मानवके आत्म-विश्वासकी, विद्रोहकी, निर्माणकी और सपनोंकी रीढ़ टूट चुकी थी। एक अजब-सी अपराध-चेतना, किसी आनेवाली भयानक विपत्तिकी आशका, अन्दरका भयानक खोखलापन, पूँजीवादकी विकृतियों द्वारा उभाड़ी गयी हिंसक पाशविकता— ये सभी किसी भयानक विस्फोटकी बाट जोह रही थी। आदमीके दिमाग

पर एक पागलपन चढ़ता जा रहा था और वह इस खूनी शिकंजेसे छूटनेके लिए हाथ-पैर पटक रहा था, लेकिन कुछ समझ नहीं पाता था। इङ्गलैण्ड तो बनिया देश था जिसकी जनताकी आँखोंपर वहाँके शासकोंने अब भी भारत तथा अन्य उपनिवेशोंके सोनेका पर्दा डाल रखा था, लेकिन यूरोपके सांस्कृतिक केन्द्र फ्रांसके साहित्य और चित्रकलामें एक अकुलाहट बेचैनी और दीवानापन पूरी तौरसे झलक आया था। प्रसिद्ध डच चित्रकार वान गाघने अपने भाईके नाम लिखे गये एक पत्रमें दक्षिणी फ्रांसके एक क्रस्बेका जिक्र करते हुए जो लिखा था वह आज समस्त पूँजीवादी संस्कृतिके लिए सच साबित हो रहा था। उसने लिखा था—

“मैं इन लोगोंको पिछले तीन महीनोंसे देख रहा हूँ, मैं तुम्हें बतलाता हूँ—ये सभी लोग विक्षिप्त हैं। उनकी आँखोंको देखो। इस सारी आबादीमें एक भी साधारण, स्वस्थ, तर्कसंगत व्यक्ति नहीं। मेरी अपनी राय तो यह है कि यह सारा नगर मिरगीके रोगसे पीड़ित है। अपनी चेतनाको कोड़े मार-मारकर ये भावावेशकी चरम सीमा तक पहुँचा देते हैं कि मालूम होता है कि अब फिट आया और इनके मुँहसे झाग निकलने लगा। लेकिन क्या वह फिट आता है? ताज्जुब तो इसी बातका है। लगता है कि अब चरम सीमा आई, अब चरम सीमा आई, पर वह चरम सीमा आती नहीं। मैं तीन महीनेसे प्रतीक्षा कर रहा हूँ कि अब कोई क्रान्ति हुई, अब कोई क्रान्ति हुई, अब कोई ज्वालामुखी फूटा। कितने बार मैंने सोचा कि क्या शहरमें रहनेवाले एकाएक पागल हो जायेंगे और एक दूसरेकी गर्दन उतारनेके लिए व्याकुल हो उठेंगे। वह प्रथम प्रलयकी घड़ी आ रही है। आयेगी और बहुत जल्दी। उस समय एक भयानक दृश्य उपस्थित होगा। हत्याएँ होंगी। आगजनी, बलात्कार, सर्वनाश क्या नहीं होगा?”

लेकिन यह केवल दक्षिणी प्रान्तके एक क्रस्बेका हाल नहीं था, यह फोड़ा समस्त पूँजीवादी व्यवस्थाके सीनेमें पल रहा था और जिस भयंकर

विस्फोटकी ओर वान गाधने इशारा किया था वह विस्फोट आया । २०वीं शतीकी पहली दशाब्दी बीतते-बीतते ही यूरोपकी धरती सेनाओंकी परेडोंसे काँप उठी, यूरोपके महासागर पनडुब्बियोंसे मथ गये और कैसरकी तोपोंने गरजकर प्रथम पूँजीवादी प्रलयकी घोषणा कर ही दी । उसके बाद आदमी पागल हो उठा एक दूसरेका गला काटनेको और पूँजीवादके गुलाम विज्ञानका भूखा कंकाल संस्कृति और मानवताकी नीवें खोद फेंकनेके लिए उतारू हो गया । लगातार पाँच साल तक यह नरमेध होता रहा । जब किसी तरह युद्ध रुका और तोपोंका मुँह बन्द हुआ तो आदमीने देखा कि उसकी आत्मामें इस भयानक नरसंहारके कारण एक ऐसा आतंक प्रवेश कर गया है जिसने उसका रहा सहा पुंस्त्व भी छीन लिया है । उसकी नसोंमें विस्फोटका इतना तीव्र आघात पहुँचा है, उसकी आत्मा इतनी कुचल गई है; उसकी पसलियाँ इतनी कमजोर हो गई हैं कि उसके मनपर इतना गहरा धक्का लगा है कि युग-युगोंसे जमे हुए उसके मनोविकार, पशुप्रवृत्तियाँ उभरकर ऊपर आ गई हैं । संस्कृतिका पूरा ढाँचा चूर-चूर हो चुका है, उसके सभी आदर्श बिल्कुल खोखले और बेमानी साबित हुए हैं । जहाँ तक फ्रांसके साहित्यका प्रश्न था उपन्यास क्षेत्रकी उर्वरता समाप्त हो गई थी । फ्रांसके तत्कालीन कथासाहित्यमें केवल ऐसे अपरिपक्व लेखक रह गये थे जिसकी मिठासके बारेमें लारेन्स बिन्सोका कहना है कि—

“उनकी रचनाओंको एक स्थगित वयःसन्धिकी गाथा कह सकते हैं । वे मनसा सम्पूर्णतः वयःसन्धिकालमें रहते हैं और इसीमें गौरव समझते हैं ।”

इसके अलावा काफ़का जैसे उपन्यासकारोंमें भी बेबसी और घुटनका बड़ा ही मार्मिक चित्र मिलता है, और जहाँतक इङ्गलैण्डका प्रश्न है तत्कालीन संस्कृतिकी इस पुंस्त्वहीनता और दिवालियापनको सबसे मार्मिक चोटके साथ उपन्यासोंमें डी० एच लारेंसने रखा । वह स्वयं एक खानके

मजदूरका लड़का था, औप अपनी अदम्य शक्ति और पैनी प्रतिभाके बलपर उच्चवर्गमें आ गया था। उसके पत्र, कविताएँ, यात्रा-विवरण और उपन्यास सबोंमें इस बातका स्पष्ट विवेचन मिलता है कि मानवताकी सृजन-शक्तिपर पूँजीवादका कितना भयानक प्रभाव पड़ा है और किस तरह उसने हमें निर्वीर्य कर दिया है। किस तरह मशीनकी सभ्यताने मानवके मनमें ऐसी ग्रथियाँ डाल दी हैं, उसकी सामाजिक चेतना और काम-प्रवृत्ति दोनोंको इतना विकृत कर दिया है कि वह भयानक उलझनमें पड़ गया है। प्रथम महायुद्धके बादका लगभग समस्त उपन्यास साहित्य आन्तरिक उलझन और काम-विकृतियोंका साहित्य रहा है। उसके नायक भी उतने ही उलझे हुए और विकारग्रस्त रहे हैं। इसके मूलमें किस तरह पूँजीवादी व्यवस्था और महायुद्ध था, इसका स्पष्ट विवेचन स्वयं लारेन्सने बटेंड रसेलके नाम लिखे गये पत्रोंमें किया है। ये पत्र सन् १९१५-१६ में लड़ाईके ही दौरानमें लिखे गये थे। लारेन्स कहता है—

“अपने दैनिक जीवनके लिए हमें आर्थिक आधारके अलावा कोई दूसरा आधार ढूँढ़ना पड़ेगा। हमें आर्थिक प्रश्नसे तो छुटकारा पाना ही है। शासन पद्धतिमें क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना होगा……इस तरहकी कोई न कोई बात तो करनी ही पड़ेगी। ‘मानवकी आत्मा मुक्त हो’, इस पुकारका कोई अर्थ नहीं है यदि उसके जूते पाँवको इस बुरी तरह काट रहे हों कि वह चल भी न पाये। हमारे सब आदर्श ढोंग हैं यदि हम पूँजीकी श्रृंखलाएँ तोड़ नहीं डालते।”

ये लारेन्सके विचार थे—पूँजीवाद और उसके विरुद्ध क्रान्तिके विषयमें। लेकिन पूँजीवादने मनुष्यको किस प्रकार मनसाक्लीव बना दिया, इस विषयमें उसने प्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यासकार ई० एम० फास्टर्करा जिक्र किया। फरवरी १९१५ में फास्टर्कर आकर लारेन्सके साथ ठहरा था। फास्टर्कर अविवाहित था, उसका उल्लेख करते हुए लारेन्सने लिखा:—

“हमारे तनको मुक्त करनेके लिए सचमुच एक क्रान्ति होनी चाहिए।

अतृप्त तनमें कभी भी मुक्त आत्माका निवास हो सकता है यह सफेद झूठ है—फ्रास्टर्का ही उदाहरण लो। क्या दुनियाका समस्त काव्य फ्रास्टर्के पुरुषत्वकी प्यास बुझा सकता है, जब कि वह जानता है कि उसकी तृप्ति तो तत्कालीन शारीरिक समागमसे ही हो सकती है। वह अपनेको बहलानेकी कोशिश करता है। यह देखकर तरस आता है।

लेकिन वह हिचकिचाता क्यों है? वह क्यों नहीं किसी नारीको ग्रहण कर अपनी मूल आदिम प्रवृत्तिको तृप्त कर लेता?—क्योंकि वह जानता है कि केवल अपनी प्रवृत्ति अपनी प्यासकी तृप्ति पा लेना, उससे साक्षात्कार ही उसका ध्येय नहीं है। उसका अन्तिम ध्येय तो वह लगातार चलनेवाली प्रक्रिया है जिसे सामाजिक भावावेशका नाम दिया जाता है—मानवताके प्रति प्यार, मानवताके लिए कुछ करनेकी इच्छा।—लेकिन आपने यह शैतानी चक्कर देखा! क्या मैं अपनी मानवता, अपने चिरपीड़ित प्रामेथ्यजके पास जाऊँगा और उसे सुन्दर कहानियाँ सुनाऊँगा जब कि गीध उसकी अँतड़ियाँ नोचकर खा रहे होंगे। मैं शर्मसे सर झुका लूँगा। मुँह फेर लूँगा। अपने बेकार निरर्थक और निकम्मे शब्दोंपर बेहद शर्मिन्दा होकर—फिर मैं किसी स्त्रीके पास क्यों जाऊँगा? पहले अपने आपको जाननेके लिए? ठीक है! लेकिन अपनेको तो केवल तैयार करना है। किसलिए? उस अज्ञात प्रदेशकी खोजके लिए जिसे नारीका नाम दिया गया है। लेकिन फिर मेरा हृदय स्पष्ट कह उठता है 'नहीं, नहीं!' मैं उस दिशामें आगे नहीं बढ़ सकता। क्योंकि ऐसे अज्ञात प्रदेशकी खोज करनेवाले साहसी यात्री तो किसी देशकी जनताकी ओरसे आते हैं, उनके ज्ञानकी परिधिको और भी विस्तीर्ण करनेके लिए। लेकिन मेरी जनता तो हिल भी नहीं सकती, उसे तो लकवा मार गया है।

फिर मैं किसी नारीका क्यों आलिंगन करता हूँ? क्यों उसे हृदयसे लगा लेता हूँ? आत्मखोजकी अनुभूतिको दोहरानेके लिए? पर मैं अपनेको खोज चुका हूँ। मैं सीमाहीन नहीं हूँ। फिर भी जब मैं यौन-अनुभूति-

को दोहराता हूँ तो वह कोई नई अनुभूति नहीं रहती। इसलिए जब कोई पुरुष किसीको ग्रहण करता है तो वह केवल पूर्वास्वादित अनुभूतिको दोहराता है, कोई नई अनुभूतिकी खोज नहीं करता ! और यह स्व-स्खलनसे किसी हालतमें बेहतर नहीं।”

जब ऐसी अवस्था आती है तो पुरुषोंके पारस्परिक अप्राकृतिक व्यभिचारका प्रचलन बढ़ जाता है। क्योंकि वह स्व-स्खलनके अधिक समीप है……लेकिन सशक्त आत्मा वाला व्यक्ति दूसरेके शरीरके प्रति बहुत आदरकी भावना रखता है। चाहे वह व्यक्ति स्त्री हो या पुरुष। अतः वह यौन-क्रियासे तटस्थ निष्क्रिय रहता है। ऐसा बिलकुल ऐसा ही है फास्टर !”

लेकिन यह मानसिक पुंस्त्वहीनता केवल फास्टरमें नहीं थी, यह उस समयकी समस्त संस्कृतिपर छा गई थी। १३ वर्ष बाद लारेन्सने अपना सबसे प्रसिद्ध उपन्यास ‘लेडी चैटलेंज लवर’ लिखा जिसमें उसने उसके नायक लार्ड किलफर्ड चैटलेंको एक उच्चवर्गमें उत्पन्न कहानी लेखकके रूपमें प्रस्तुत किया है जो फ्लैंडर्समें लड़ने जाता है और जब लौटकर आता है तो महायुद्धमें एक बम-विस्फोटके कारण उसकी कमरके नीचेका सारा हिस्सा बेकाम हो गया है। वह सन्तानोत्पत्तिके सर्वथा अयोग्य है। उसकी पत्नी अत्यन्त सुन्दरी है और पतिको बहुत प्रेम करती है, किन्तु उसका मातृत्व भूखा रहता है जिसके कारण वह अपने पतिके बागोंकी रखवाली करनेवाले एक श्रमिक मेर्लससे अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेती है और अपने पतिको छोड़ देती है। उसके इस अत्यन्त शक्तिशाली उपन्यासके मूलमें एक रूपक है जिसमें किलफर्ड उस बुद्धिवादी नपुंसक पूँजीवादी-वर्गका प्रतीक है जो अपना समस्त पुरुषत्व खो बैठा है और जिसमें सृजनकी ताकत बाक्री नहीं रही है। कोनी या लेडी चैटलें उस सांस्कृतिक परम्पराकी प्रतीक है जो नये मानव नये मनु-युगको जन्म देना चाहती है अतः उस श्रमिकसे अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेती है, जिसमें अभी

पुरुषत्व बाक्री है और अपने उच्चवर्गीय, पूँजीपति, बुद्धिवादी कहानी-लेखक पतिसे सम्बन्ध विच्छेद कर लेती है। यह समस्त उपन्यास एक गम्भीर रूपक है जिसमें आधुनिक उपन्यासोंके उच्चवर्गीय, बुद्धिवादी लेखक और नायकोंकी मानसिक नपुंसकताका गम्भीर विवेचन है। जगह-जगह लारेन्सने पूँजीवादी संस्कृतिको उलट देनेको चुनौती दी थी। जिस पत्रका जिक्र हमने ऊपर किया है, उसीके अन्तमें लारेन्सने लिखा था—

“इसलिए या तो हमें इस खोल, इस बाहरी आवरण, इस चौखटेको तोड़ डालना है या अन्दर ही अन्दर मुँह छिपाकर घुटते जाना है।” लेकिन हम इस चौखटेको मिसमार कर देंगे। धरती, उद्योग, यातायातके साधन, आमोद-प्रमोद सभी जनताके होंगे, राष्ट्रके होंगे—तभी, केवल तभी हम सच्चे अर्थमें जिन्दगी जीना आरम्भ करेंगे !”

प्रथम महायुद्धके समाप्त होते-होते पूर्वी यूरोपके एक देशमें महान् क्रान्ति हुई जिसने पहली बार “धरती, उद्योग, यातायातके साधन, आमोद-प्रमोद” सभी राष्ट्रकी सत्ताके अन्तर्गत कर दिये—पर मुश्किलसे १०, १५ बरस तक यह नयी व्यवस्था चली कि यह स्पष्ट होने लगा कि यह आशा कि इस व्यवस्थाके अन्तर्गत मनुष्य सच्चे अर्थोंमें जिन्दगी जी सकेगा, यह व्यर्थ है। यह ठीक था कि भौतिक उत्पादन और समृद्धिकी दृष्टिसे इस क्रान्तिने कुछ प्रगति की किन्तु मनुष्यका आन्तरिक विघटन और मूल्यगत संकट ज्योंका त्यों कायम रहा। प्रारम्भमें न केवल यूरोप वरन् समस्त संसारके जागरूक बुद्धिजीवी बड़ी तेजीसे इस क्रान्तिकी ओर आकर्षित हुए, किन्तु उसमें अधिकांशका भ्रम टूटा और वे इस क्रान्तिके कड़े आलोचक बन गये। इस क्रान्तिका सूत्रपात, उसके आरम्भिक दिनोंमें बुद्धिजीवियों का उसके प्रति उत्साह, उसके बाद धीरे-धीरे उसकी असंगतियोंका उभर कर आना, उसका सोवियट साहित्यपर प्रभाव—इसकी विवेचना बहुत विस्तारमें अन्यत्र की जा चुकी है। (दे० प्रगतिवाद : एक समीक्षा)

किन्तु उसका एक विशेष पक्ष है जिसपर अभी हमने विचार नहीं किया है ।

जिन क्लीव, निराश, पंगु, असमर्थ नायकोंका चित्रण हमें यूरोपीय साहित्यमे मिलता है इसके सर्वथा विरुद्ध सोवियट साहित्यमें बराबर इस बातपर आग्रह किया जाता रहा कि नये कथा साहित्यमे नकारात्मक नायकका बहिष्कार हो । सक्रिय नायक (पाजिटिव हीरो) का चित्रण हो । सोवियट रूस अपनी पंचवर्षीय योजनाएँ पूरा करनेमें लगा था, वह चाहता था कि ऐसा नायक जो केवल चिन्तन और आत्मविश्लेषणमें डूबा रहता है उसके किसी उपयोगका न होगा अतः वह सक्रिय नायककी तलाशमे था जो बाँध बनाये, टैंक चलाये, पैदावार बढ़ाये । वह दृष्टिकोण कितना खोखला और सतही था, इसको किस प्रकार पार्टीके फ़रमानोंके द्वारा लागू करानेकी चेष्टा की जाती रही, उसके कितने भयकर विनाशकारी परिणाम निकले; इसके विस्तारमें यदि न जायँ तो मूलतः कहाँपर इसमें भ्रान्ति आ गयी थी इसको समझ लेना आवश्यक है ।

जैसा स्टीफ़ेन स्पेण्डरने, जो काफ़ी दिनों तक खुद कम्युनिस्ट पार्टीका सदस्य रहा है, स्थितिका विश्लेषण करते हुए कहा है कि कम्युनिस्ट सिद्धांतमें सबसे पहली भ्रान्ति यहाँ आती है कि वह मनुष्यकी स्वाधीनता और व्यक्तिके महत्त्वकी पूर्णतया उपेक्षा करता है । मानवीय मूल्य अन्ततोगत्वा मनुष्यके वैयक्तिक जीवनमें ही पनपते हैं और उनका विकास व्यक्तिसे समूह या समाजकी ओर होता है । कम्युनिज्म व्यक्तिको पूर्णतया अस्वीकृत कर केवल एक अमूर्त निराकार समूहको प्रतिष्ठित करता है । फिर उस समूहके दायित्वको निर्धारित करनेका काम राजके हाथमें होता है । परिणाम यह होता है कि मानवीय मूल्योंका स्थान राजनीतिक दुराग्रह ले लेता है और मनुष्यके बहु-आयाम वाले विराट् जीवनको केवल राजनीतिके छोटेसे पैमानेसे मापनेकी कोशिश की जाती है ।

आर्थर केस्लरने इसमें एक अधिनायककी असंगतिको और भी स्पष्ट करते हुए कहा है वास्तविकता यह है कि जैसे आध्यात्मिक साधक (योगी) सामान्य मानवीय नियमसे पृथक् केवल अपनी पूर्णताका साक्षात्कार सीधे ब्रह्ममें लीन होकर करनेका दावा करता है, उसी प्रकार कमिसार वास्तविक प्रजाजनों या व्यक्तियोंको कोई भी महत्त्व न देकर सीधे अधिनायकका अनुशासन स्वीकार कर और उसे प्रजाजनोंसे स्वीकार करवाकर अपने दायित्वकी इतिश्री समझता है। सोवियट लेखकका सबसे बड़ा संकट यह रहा है कि पिछले ३०, ३५ वर्षों तक वह केवल कमिसारके निर्देशनमें रहा और अधिनायकसे मिलनेवाले सकेतों और आदेशोंको ही वह जनताका यथार्थ समझनेकी भूल करता रहा। वस्तुतः सामाजिक अयथार्थका सबसे विस्तृत साहित्य अगर देखना हो तो सोवियट साहित्य देखना चाहिए। और यह मत केवल मेरा नहीं है। अभी जब स्टालिनकी मृत्यु हुई और खुश्चेवने बहुतसे रहस्योद्घाटन किये तो उसी समय पार्टी काँग्रेसमें प्रख्यात सोवियत लेखक शोलोखवने कहा—“पिछले दिनों लिखा गया अधिकांश सोवियत साहित्य निष्प्राण है। ये लेखक यथार्थसे कोसों दूर हैं। ये सोवियत जनताके यथार्थ जीवनको जानते ही नहीं।”

सोवियत रूसके सरकारी लेखक, अधिकतर उस ‘पाज़िटिव’ नायककी प्रतिष्ठामे लगे हुए थे जो सक्रिय तो था पर स्वाधीन मनुष्यकी भाँति नहीं, यन्त्रकी भाँति—और यन्त्र कभी भी एक समर्थ सृजनशील नायककी कमी पूरा नहीं कर सकता।

यह सोवियत प्रयोग भी असफल रहा और पश्चिमके सामने उत्पन्न बौद्धिक संकट और भी गहरा लगने लगा। क्या पश्चिमकी सृजनात्मकता सचमुच पूर्णतया अवर्द्ध हो गयी है और अब केवल एशिया अफ्रीका या भूभाग ही मानवीय मूल्योंकी प्रगतिमें कुछ योग दे सकेंगे जो अभी तक प्रसुप्त रहे हैं। यह प्रश्न बार-बार ससारके चिन्तकोंके सामने प्रस्तुत होने लगा।

एक भव्य अतीतका अनिश्चित भविष्य

यूरोपकी दोनों व्यवस्थाओंके गहन आन्तरिक संकटका आभास बार-बार यूरोपके इतिहासकारोंको होता रहा है। स्पेंगलसे लेकर ट्वायनबी तक बार-बार इस बातकी चेतावनी देते रहे हैं कि यूरोपीय संस्कृतिकी उन्नतिका चक्र अब पूरा घूम चुका है और अब मानवीय जातिके विकासकी सम्भावनाएँ यूरोपके बजाय एशिया अफ्रीका आदि महाद्वीपोंमें अधिक हैं। दोनों महायुद्धोंके बीच यूरोपके कई लेखक, चिन्तक और बुद्धिजीवी एशियाकी ओर आकर्षित हुए पर वस्तुतः द्वितीय महायुद्धकी परिसमाप्तिके उपरान्त एशियाकी ओर अधिक ध्यान केन्द्रित हुआ। किन्तु यह देखनेके पूर्व कि एशिया वस्तुतः मानवीय विकासमें क्या योग दे सकता है हम उन अवधारणाओंका परीक्षण कर लें जो एशियाकी परिकल्पनाके साथ जुड़ी हुई हैं।

राजनीति, सैन्य संचालन या शीत युद्धके धरातलपर 'एशिया' का चाहे जो भी अर्थ हो पर वह जो साहित्य या संस्कृतिके धरातलपर सोचता है उसके लिए एशिया केवल विस्तृत क्षेत्रमें फैला हुआ एक विविध जलवायु और जातियोंवाला महाद्वीप मात्र न होकर एक ऐसी अवधारणा भी है जिसके अर्थ इतिहासके साथ-साथ बदलते रहे हैं, विकसित होते रहे हैं। लेखक और बुद्धिजीवियोंके लिए उस निरन्तर विकसित होती हुई अवधारणाके रूपमें एशियाको समझना आवश्यक है; विना उसके हम एशियायी लेखक न तो अपनी परम्पराका सही-सही आकलन कर सकेंगे, और न इतिहासके इस गहन आकस्मिक मोड़ पर अपने दायित्वको ठीक-ठीक समझ सकेंगे।

इतिहासका यह एक अजीब व्यंग्य है कि आधुनिक युगमें एकसूत्रमें आबद्ध एशियाकी अवधारणाका सूत्रपात यहाँ न होकर पश्चिममें हुआ। उद्योग-व्यापार और विज्ञानकी उन्नतिके साथ-साथ जब उपनिवेशोंकी स्थापना शुरू हुई तो पश्चिम वालोंने एक विभाजक रेखा खींच ली। उस रेखाके एक ओर पश्चिम (Occident) था और दूसरी ओर पूर्व (Orient)। एक उपनिवेश कायम करनेका अधिकारी था और दूसरा उपनिवेशोंकी स्थापनाके योग्य भूमि। एक शासनका अधिकारी था और दूसरा शासित होनेका। उन उपनिवेश कायम करनेवाले सुसभ्य विजेताओंकी दृष्टिमें अफ्रीका अपनी असुविधाओंके कारण “अँधेरा महाद्वीप” था, पर एशिया आकर्षक था। वह था शानदार पूर्व (Magnificent Orient) जहाँ मणि, माणिक्य, मोती, रेशम, सोना, संगमरमरके राजमहल, विलासी बादशाहोंके हरम, अर्द्धनग्न बेगमें और वीर योद्धाओंकी भरमार थी। उन्हींके साथ-साथ नटों, बाजीगरों, और बहुरूपियोंके शिविर भी थे। एशियाविषयक यह धारणा बड़ी ही दिलचस्प थी। एक ओर इन पाश्चात्य सौदागरोंके सामने एशियाके सामन्तों और शासकोंकी अथाह दौलतकी चकाचौंध थी, और दूसरी ओर यहाँकी धार्मिक परम्पराओं और साहित्यिक विरासतसे पूर्णतया अनभिज्ञ होनेके कारण वे एशियाको अर्द्ध सभ्य बर्बरोंका देश समझते थे। कुल मिलाकर उनके सामने जो एशिया था वह “अरेबियन नाइट्स” का एशिया था। फ्रांससे तो जिस “डिकें-डेन्स” का सूत्रपात हुआ उसको यह कल्पित एशिया बड़ा ही मनोनुकूल लगा। घोर ऐन्द्रिक सौन्दर्य और साथ साथ खूँखवार बर्बरता भी। और इसीलिए, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं कि जब अन्तोई गैलाने पहली बार सरल फ्रेंचमें अरेबियन नाइट्सका अनुवाद प्रस्तुत किया तो रातों रात सारे फ्रांसमें सनसनी फैल गयी और तदुपरान्त एकके बाद दूसरी यूरोपीय भाषाका सामान्य पाठक वर्ग ‘अरेबियन नाइट्स’ के मोहपाशमें आबद्ध हुआ और फिर तो अरेबियन नाइट्सके अनुकरणका सिलसिला बँध गया।

ईरानकी प्रेम-कथाएँ, भारतकी सनसनी-खेज प्रेम-कथाएँ, चीनके सामन्तोंकी अगणित उपपत्नियाँ और उनके विलास और उनके षड़यन्त्रोंकी कथाएँ यूरोपके बाजारोंमें सस्ते कामुक चित्रोंसे अलंकृत होकर बिकने लगीं। वह एशिया उपनिवेशवादियोंके मस्तिष्कका एशिया था, ऐसा मस्तिष्क जो विलासका प्यासा था, जो एशियाके आर्थिक शोषणको न्यायोचित समझता था, और सभ्यताके क्षेत्रमें अपनेको श्रेष्ठतर मानना चाहता था। अन्दरसे रिक्त हो रहा था, अभिरुचियोंके क्षेत्रमें ह्रासोन्मुख था।

इसके बाद इतिहासके पन्ने पलटते जाइए, वारेन हेस्टिंग्सने लूटपाटके साथ-साथ संस्कृतके अध्ययनकी परम्परा शुरू की, गेटेने अभिज्ञानशाकुन्तल पढ़ा, रूसी विद्वानोंने बौद्ध धर्मका अध्ययन किया, जर्मन विद्वानोंने वैदिक साहित्यका अध्ययन शुरू किया, ब्रिटिश म्यूजियम और अन्य यूरोपीय संग्रहालयोंमें एशियाई पाण्डुलिपियों, चित्रों तथा मूर्तियोंका विशाल संग्रह पहुँचा—और सहसा पश्चिमके सामने एशियाका एक नया अर्थ उद्घाटित हुआ—न जाने कितना पुराना महाद्वीप—जो यूरोपमें सभ्यताके आरम्भ होनेके युगों पूर्वसे अगणित संस्कृतियोंके उत्थान और पतनकी लीलाभूमि रहा है। एक रहस्यमय महाद्वीप जो जाने कितनी विस्मृत जीवन-पद्धतियोंका भेद छिपाये शान्त बैठा है। अथाह, रहस्यमय, गहन, भेदभरा। विद्वानों, पुरातत्त्ववेत्ताओं और शोधकर्ताओंके सामने जो भी चित्र हो, पर सामान्य यूरोपीय मस्तिष्कमें परिवर्तन और भी रोचक ढंगसे घटित हुआ। एशिया सम्बन्धी पुरानी धारणाके जो नट और बाजीगर थे, वे रातों रात ऋषि, महात्मा, द्रष्टा और पूर्वीय सन्त मान लिये गये और एक औसत यूरोपीय दिमागमें जादूगरी और रहस्य-दर्शन दोनों ही अध्यात्मके कक्षमें घुल-मिलकर एक हो गये। जो महान् चिन्तक है वह जरूर अतिप्राकृतिक चमत्कारोंका अधिष्ठाता होना चाहिए। मैडेम ब्लैवेट्स्कीसे लेकर आल्डु-अस हक्सले तक इसी पगडण्डीपर चलकर एशियाके निकट आये। एशिया

जो अरेबियन नाइट्सका एशिया था, वह अकस्मात् प्रेत-विद्या और वेदान्त-दर्शनका एशिया हो गया ।

एशियाके बारेमें पाश्चात्य मस्तिष्ककी यह प्रतिक्रिया वस्तुतः यूरोपीय सभ्यताके एक आन्तरिक संकटकी उपज थी । उपनिवेश स्थापनाकी प्रक्रिया जिस औद्योगिक क्रान्तिके साथ शुरू हुई थी वह औद्योगिक क्रान्ति अपनी उन्नतिके चरमशिखरपर पहुँच चुकी थी । यन्त्र-युग अपनी पूर्ण प्रखरताके साथ व्याप्त था, और यूरोपका वह मनुष्य जिसने प्रकृतिपर विजय प्राप्त करनेका दुस्साहस पूर्ण अभियान किया था उसका प्रकृतिपर पूर्ण आधिपत्य तो हो गया था पर कहीं न कहीं उसे यह लगने लगा था कि यह विजय उसे मँहगी पड़ी है । ऐसी आन्तरिक उद्विग्नता, क्षोभ, असंगति अशान्तिका संचार हो गया था जिसकी उसने कल्पना भी नहीं की थी । वह प्रयास करके भी उससे मुक्त नहीं हो पा रहा था और विजयी होकर भी वह पराजित अनुभव करता था । फलस्वरूप उसने एक नया आध्यात्मिक उपनिवेश खोजना शुरू किया जहाँ गहरी अज्ञात कन्दराओंमें अथाह आध्यात्मिक सम्पत्ति भरी हुई हो जिसे जाकर वह हस्तगत कर ले । वह अब भी प्रकृतिपर विजय प्राप्त करना चाहता था पर इस बार पाश्चात्य विज्ञानके माध्यमसे नहीं, पूर्वोक्त योग-विद्याके माध्यमसे । अनुसन्धान-शालाएँ स्थापित करके नहीं, अध्यात्म-केन्द्र स्थापित करके । सौमरसेट मामसे लेकर जेम्स हिल्टन तकके पात्र जब भारत या तिब्बत आते हैं तो इसी आशयसे आते हैं । यही नहीं बल्कि यन्त्र युगने उनकी जीवन पद्धति-के जिन पक्षोंपर विशेष दबाव डाला था उनका भी समाधान उनको एशियामें मिलता है । यन्त्र युगका मनुष्य जो समयके अभावसे आतंकित है और कालके तीव्र विध्वंसक प्रवाहमें हाथ-पाँव फँक रहा है, डूब रहा है और पाँव टिकानेकी जगह नहीं पा रहा है, उसे एशिया अद्भुत लगता है जहाँ समयके प्रवाहको बाँध लिया गया है,—जहाँ यूरोपीय कथाकारोंकी कल्पनाके अनुसार तिब्बतकी रहस्यमयी घाटियोंके बौद्ध मठोंमें काल-

प्रवाहको जीतकर अमरत्वकी उपलब्धि कर लेनेवाले लामा निवास करते हैं, जहाँ आत्माका अबाध प्रवाह जन्म-जन्मान्तरकी सीमाको पार कर बहता रहता है, जहाँ उस विराट् शाश्वत एकरसताके आगे इसका कोई महत्त्व नहीं कि किसी युद्धमे कुछ देश उजड़ गये, या किसी अकालमें कुछ हजार लोग मर गये । विराट्के प्रवाहमें इसका क्या महत्त्व ?

पर क्या सचमुच एशिया ऐसा था ? सच तो यह है कि लज्जाजनक वर्तमानकी कटु अनुभूतियोंसे विक्षुब्ध, अपनी नियतिका साक्षात्कार करनेके लिए सघर्ष करती हुई एशियायी जनताको निकटसे जाननेवाला एशियायी लेखक जब यूरोपीय आइनोंमें प्रतिबिम्बित होनेवाले एशियाके इन झूठे, रंगे-चुंगे—काल्पनिक चेहरोंको देखता है तो उसे वे चेहरे कभी हास्यास्पद लगते हैं, कभी अपमानजनक । और उसे स्पष्ट दीख पड़ता है कि एशियाकी परम्पराओं, उसकी वर्तमान विडम्बना और अपने भविष्यके सम्बन्धमें उसकी आकांक्षाओंका सही-सही आकलन अभी तक विश्व-साहित्यमें नहीं प्रस्तुत हो सका । जो धारणाएँ फैली हुई हैं और मानी जाती हैं, वे भ्रमात्मक हैं और सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यको एक अज्ञानपूर्ण कुहेलिकासे ढँके हुए हैं । अगर एशिया सम्बन्धी इन यूरोपजन्य भ्रान्तियोंको भूलकर हम सही ऐतिहासिक पीठिकामें एशियापर दृष्टिपात करें तो हमारे सामने एक बिलकुल दूसरा चित्र आयेगा । १९ वीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें ही सारे एशियामें एक सर्वव्यापी जागरणके लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे थे जिनका पूरा प्रभाव साहित्यके क्षेत्रमे पड़ रहा था और नये सन्दर्भमें नये धरातलपर एक बौद्धिक विक्षोभ अपनेको अभिव्यक्त करने लगा था । उसकी अपनी शक्ति भी थी पर उसकी अपनी सीमाएँ भी थीं । कहीं-कहीं उसमें कोई निश्चित दिशा नहीं थी केवल विद्रोह था, कहीं-कहीं उसमें वास्तविकताको ठीक-ठीक न समझ पानेकी उलझन भी थी । पश्चिमकी टकराहटसे एशियाने चोट खाई थी और चाहे उसकी प्रतिक्रियाओंमें

प्रौढताकी कमी हो, उसकी कई अन्तर्धारणाएँ परस्पर मेल न खाती हों, कहीं-कहीं असंगतियाँ भी स्पष्ट दीखती हों, पर कुल मिलाकर वह बौद्धिक वक्षोभ एशियायी जागरणकी भूमिका था, इसमें कोई सन्देह नहीं ।

उदाहरणके लिए अगर भारतके ही तत्कालीन इतिहासको हम देखें तो हम पायेंगे कि उपनिवेशवादके प्रति एक विशेषकी भावना दिनों-दिन पनप रही थी । फलस्वरूप सुधारवादका जो आन्दोलन चल पड़ा था उसके कई पक्ष ऐसे थे जिनकी इतिहाससे संगति नहीं बैठती थी, पर मूलतः उस आन्दोलनका स्वर ही यह था कि हम पिछड़ गये हैं अपनेको सुधारेंगे नहीं तो नष्ट हो जायेंगे । इसकी दो प्रतिक्रियाएँ हमपर होती थीं—एक ओर तो हम सभी पाश्चात्य प्रभावोंको घृणा, अविश्वास और आशंकाकी दृष्टिसे देखते थे—नलके पानीसे लेकर स्त्री शिक्षा तकको, और दूसरी ओर हम प्रयत्न करते थे कि हमारे यहाँ भी वही भौतिक समृद्धि हो, यान्त्रिक उन्नति हो, इतना ही नहीं वरन् हम यह भी खोज निकालते थे कि हमारे यहाँ भी विमान थे और अगर जर्मनीवालोंने हवाई जहाज बनाया तो वह वेद पढ़कर । एक ओर हम मशीनोंको राक्षसी सत्ताएँ भी मानते थे और पश्चिमी तौर-तरीकोंको हानिकर भी मानते थे और दूसरी ओर हम तुर्की और जापान ऐसे राष्ट्रोंको अनुकरणीय भी मानते थे जिन्होंने सामाजिक क्षेत्रमें या औद्योगिक क्षेत्रोंमें यूरोपको भी पछाड़नेमें सफलता पा ली थी । दूसरे स्तरपर एक दूसरी प्रतिक्रिया थी । हम यह भी सिद्ध करनेमें लगे हुए थे कि हम भौतिक उन्नतिमें पिछड़ गये हैं तो क्या, आध्यात्मिक क्षेत्रमें हमारा कोई मुक्ताबला नहीं है और जब यूरोपीय सभ्यताके कुछ थके, पराजित निर्वासितोंको प्रेतविद्या, और रहस्य दर्शनके प्रति अनुरक्त पाते थे तो हम इस अभिमानसे फूल उठते थे कि अब भी हम जगद्गुरु हैं, अब भी संसारका उद्धार हमारी रहस्य-साधनासे ही होगा । यह मानते हुए भी कि ये प्रतिक्रियाएँ केवल मानसिक कैशोर्यकी सूचक थीं, हम यह नहीं भूल सकते कि उस ऐतिहासिक परिस्थितिमें उपनिवेश-

वादके विरुद्ध हमारे तीव्र बौद्धिक विक्षोभके ही ये विभिन्न पहलू थे और इन्हीं परिस्थितियोंमें-से गुज़रकर धीरे-धीरे हमने आधुनिक युगकी वास्तविकताओंको पहचाना और उनके सही ऐतिहासिक सन्दर्भको समझा। इसीलिए आज ये जितनी भी अपरिपक्व लगें, पर उस समय इन्होंने अपनी ऐतिहासिक भूमिकाका पूरा-पूरा निर्वाह किया।

उस समय अपनी परम्पराके प्रति हममें जो एक असाधारण आग्रह जाग उठा था, वह इसीलिए था कि अतीतका चिन्तनकर हम वर्तमानकी क्षतिपूर्ति करते थे। इसका एक तात्कालिक महत्त्व तो अवश्य था क्योंकि हम एक निरंकुश विदेशी सत्तासे संघर्ष कर रहे थे, पर परम्पराके प्रति यह लगाव मूलतः भावोन्मादपूर्ण था, उसमें किसी भी गहरी दृष्टिका अभाव था। अतीतके प्रति केवल एक रूमानी भावोन्मादपूर्ण, या अन्य श्रद्धापूर्ण आग्रहके स्थानपर एक वैज्ञानिक दृष्टि रखनेकी चेतना हमें सबसे पहले मार्क्सवादियोंने दी, इसमें कोई सन्देह नहीं। अतीतके गुण-दोष परखना और उनमेंसे दोषोंको छोड़कर गुणोंको ग्रहण करनेकी बात तो सुधारवादियोंने भी कही थी, पर मार्क्सवादियों, या प्रगतिवादियोंने एक अलग बात कही। वह यह कि परम्परा स्वतः एक गतिशील वस्तु है और वह भी ऐतिहासिक सन्दर्भमें समझी जानी चाहिए और उसमें बहुत कुछ ऐसा है जो सन्दर्भके कारण कभी बहुत महत्त्वपूर्ण और अर्थवान् लगता हो, पर सन्दर्भके अभावमें बिलकुल निरर्थक और महत्त्वहीन हो जाता है, केवल एक प्रतिक्रियापरक रूढ़िके समान ऐतिहासिक प्रवाहमें अवरोध बनकर अड जाता है। यह एक क्रान्तिकारी दृष्टि थी, और अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक और वास्तविक थी। फलस्वरूप परम्पराके प्रति जो भी भावोन्मादपूर्ण रखवाले लोग थे उनके मनमें तीव्र प्रतिक्रिया हुई और काफ़ी दिनों तक वे सांस्कृतिक और साहित्यिक क्षेत्रमें जिस नयी धारणाको नापसन्द करते थे उसे 'प्रगतिवादी' कहकर उसके निन्दनीय और त्याज्य होनेकी घोषणा करते थे किन्तु यह स्थिति अधिक दिन न रही। यह

सचमुच ही समयका एक अत्यन्त निर्मम परिहास था कि कई कारणोंसे यह मार्क्सवादी बौद्धिक आन्दोलन स्वतः कतिपय ऐतिहासिक दायित्वोंको अस्वीकार करता गया, कल्पित धारणाओं और भ्रान्तियोंको प्रश्रय देता गया और अन्तमें सारे ऐतिहासिक सन्दर्भोंसे कटकर अलग जा गिरा और अक्सर यह विचित्र दृश्य देखनेमें आने लगा कि रूढ़िवादी और प्रगतिवादी एक सम्मिलित शिविरमें एकत्र हैं क्योंकि वास्तविक ऐतिहासिक सन्दर्भोंसे दोनों ही विच्छिन्न हो गये हैं ।

ज्यों-ज्यों मार्क्सवादी इस स्थितिमें आते गये त्यों-त्यों अतीतके प्रति उनकी भी दृष्टि दोषपूर्ण होती गयी और बजाय निष्पक्ष वैज्ञानिक दृष्टिके उनका आकलन केवल तात्कालिक नीति कौशल (Tactics) को प्रति-बिम्बित करने लगा । अगर उनके शिविरमें जीवित प्रथम श्रेणीके स्वर्गीय लेखकोंकी कमी है तो कोई बात नहीं, वे प्रथम श्रेणीके लेखकोंको अपने शिविरमें ले आयेंगे और उनकी वैसाखी लगाकर दो हाथ ऊँचे खड़े होनेका विज्ञापन करते रहेंगे । और इसके लिए अगर ऐतिहासिक तथ्योंको थोड़ा विकृत भी करना पड़े, या उनको नज़र-अन्दाज भी करना पड़े, या कहीं-कहीं स्वतः मार्क्सिय नियमोंकी भी उपेक्षा करनी पड़े तो वह आपद्धर्ममें गिना जा सकता है ।

पता नहीं इससे प्रगतिवादियोंका लाभ हुआ या हानि, पर इससे यह अवश्य हुआ कि परम्पराके बारेमें एक स्वस्थ विवेकपूर्ण दृष्टिके विकासमें क्षति पहुँची । यदि एशियायी परम्परामें सचमुच कुछ भी ऐसा न होता जो जीवन्त हो प्राणदायी हो, तब तो बात दूसरी थी—पर दुखद यह था कि उसके जो वास्तविक प्राणदायी तत्त्व थे, उनका उद्धार नहीं हो सका, और बहुत जो कुछ रूढ़ था, प्राणहीन था, ऐतिहासिक सन्दर्भोंसे विच्छिन्न था, घातक था, उसे सर उठानेका मौका मिलने लगा ।

इस गलतीकी शुरुआत वहाँसे हुई, जहाँसे मार्क्सवादियोंने यह भुला दिया कि मध्यकालमें एशियायी समाज सगठनकी प्रकृति बिल्कुल वही

नहीं रही है जो मध्यकालीन योरोपकी थी, और वर्ग-संघर्षके सामान्य नियम और उनके परिणामोंको जैसा यूरोपमें लागू किया गया था, वैसा ही बिलकुल वैसा ही हमने एशियामें लागू करना शुरू किया। फलस्वरूप हम यह पहचान ही नहीं पाये कि मध्यकालमें तमाम एशियामें विभिन्न क्षेत्रोंमें, विभिन्न चिन्तनधाराओंके अन्तर्गत मानवीय गौरवकी जो धारणा विकसित हुई थी, वही उसकी मध्यकालीन सांस्कृतिक समृद्धिका कारण थी। किसी अलौकिक अतीन्द्रिय जगत्की ओर दिव्य-पलायन नहीं वरन् दिव्यकी भी मानवीय धरातलपर प्रतिष्ठा—यह एशियाकी मध्यकालीन परम्पराका एक महत्वपूर्ण सूत्र रहा है। मानवीय गरिमाकी इस प्रतिष्ठाकी प्रकृतिको और उसकी आधारभूमिको मार्क्सवादी चिन्तकोंने चाहे न समझा हो पर स्वतः मार्क्सने इसको भलीभाँति पहचाना था और इसकी ओर स्पष्ट संकेत किया था। मार्क्सने स्पष्ट कहा था कि यूरोपके विपरीत एशियामें ग्राम-संगठनोंकी एक ऐसी अद्वितीय परम्परा थी जिसने एशियामें सामन्तवादी व्यवस्थामें भी साधारण जनके स्वाभिमानको और उसके अधिकारोंको बनाये रक्खा। वह उस तरह विघटित नहीं हो गया जैसे यूरोपमें हो गया था। पुनश्च चूँकि उस युगमें, गृहोद्योगकी परम्परा एशियामें थी, और यन्त्रोंका विकास नहीं हुआ था, भूमिहीन कृषक-वर्ग विशेष नहीं था और प्रत्येक श्रमिक शिल्पी, उत्पादनके साधन अर्थात् अपने औजारोंका स्वामी खुद ही था, अतः उसमें मानवीय गरिमाका तत्त्व बराबर बना रहता था। यही कारण था कि हमारे यहाँ दोनों प्रकारकी चिन्तन-धाराओंका निरन्तर संघर्ष रहा। रूढ़िवादी जो मानव गरिमाके विरोधी थे—और विद्रोही चिन्तक जो बार-बार नये-नये सन्दर्भमें मानवीय गौरवकी इस प्रतिष्ठाके ही प्रयासी थे।

इस दृष्टिसे देखनेपर सचमुच हमारे सामने अपनी परम्पराके पक्षोंका बिलकुल नया अर्थ समझमें आने लगता है। बौद्ध धर्म एशियाका सबसे व्यापक धर्म रहा है और जब उसको लोक-परक रूप मिला तो उसके उस

बोधिसत्त्व सिद्धान्तका ही विकास हुआ जिसके अन्तर्गत प्रत्येक मनुष्यके अन्दर एक बोधिकी कल्पना की गयी जो विकसित होकर बुद्धत्वके स्तरपर पहुँच सकती है। यही नहीं वरन् बोधिसत्त्वकी इस सिद्धिको समाजसे विच्छिन्न एकान्त तपस्या या किसी रहस्यवादीकी एकान्त साधनाके रूपमें न चित्रित कर उसका सम्बन्ध लोक-मंगलसे जोड़ा गया। प्रख्यात बौद्ध कथाके अनुसार जब बोधिसत्त्व निर्वाण प्राप्त करने तुषित स्वर्ग-को जाने लगे और जब उनके कानोंमें लोकका क्रन्दन-स्वर पड़ा तब वे रुक गये और अन्तमें उन्होंने यह निर्णय किया कि वे स्वर्गका परित्याग कर धरतीपर ही रहेंगे और जब तक समस्त लोकका उद्धार नहीं होता तब तक वे भी स्वर्गके अधिकारोंका उपभोग नहीं करेंगे। इसी प्रकार मनुष्यकी सम्पूर्ण प्रकृतिको भोगके स्तरपर परिशोधित करनेका व्रत लेने-वाली तन्त्र-साधना, 'मनुष्यसे बड़ा कुछ नहीं है' की उदात्त घोषणा करनेवाली वैष्णव भक्ति साधना और कितनी ही अन्य मध्यकालीन धर्म-साधनाएँ इसी मानवीय गौरवको अपनी-अपनी सीमाओंके बावजूद प्रतिष्ठित कर रही थीं। इस समयमें यह मानवीय गौरव जातीय सगठनके अन्दर बड़े-बड़े और छोटे-छोटेको बराबरीका दर्जा देनेके रूपमें विद्यमान था,★ मुहम्मदने इसे एक तीव्र भावावेश किया, सूफ़ियोंने उसे दार्शनिक गहनता प्रदान कर दी—और इस्लामका यह पक्ष इतना आकर्षक था कि रूढ़िवादी व्यवस्थाके निरकुश अत्याचारके कारण भारतकी कई निम्न

★ आ गया ऐन लड़ाईमें अगर वक्ते निमाज
 किबला रू होके खड़ी हो गई सब फ़ौजे हिजाज
 एक ही सफ़में खड़े हो गये महमूदो अयाज
 न कोई बन्दा रहा और न कोई बदानवाज
 मालिको खादिमो मोहताजो गनी एक हुए
 उसकी दरगाहमें पहुँचे तो सभी एक हुए।

वर्गकी जातियोंने स्वेच्छासे इस्लाम स्वीकार किया था। मानवीय गौरव, स्वातन्त्र्य, समानता, स्वाधीन-चिन्तन, लोक-कल्याण, कर्मठताके ये तत्त्व हमारी परम्पराके महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहे हैं, पर इनपर अभी तक समुचित आग्रह नहीं दिया जा सकता। एक ओर तो एशियायी समाज-व्यवस्था और इतिहासकी मूल प्रकृतिको मार्क्सवादी नहीं समझ पाये और दूसरी ओर जो अपनी परम्पराको केवल भावोन्मादका लक्ष्य समझते थे और यूरोपीय आँखोंसे अपनी परम्पराका आकलन करते थे उन्होंने यह मान लिया था कि “रोपट्रिक” वाले बाजीगरोंकी तरह अधरमे रस्सी फेंककर उसपर चढ़कर अनन्तमे, असीममे लीन हो जाना ही हमारी परम्पराकी सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। मानवीय गौरवकी प्रतिष्ठा भी हमारी परम्पराकी एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि रही है इसे हम लगभग भूल गये थे, क्योंकि यूरोपके बाजारोंमे तो माँग थी एशियायी रहस्यवादकी।

अपनी मध्यकालीन परम्पराकी इस महत्तम उपलब्धि ‘मानवीय गौरवकी प्रतिष्ठा’को भूल जानेका एक और कारण था। हमारे इस अतीत-मे और हमारे वर्तमानके बीचमें जो लम्बी गहरी और अँधेरी खाई थी, इतिहास था, उसका व्यवधान बहुत घातक था। उस मानवीय गौरवकी प्रतिष्ठाके बादसे लेकर कई ऐसे ऐतिहासिक अनुभव एशियायी अन्तरात्मामें पैठते गये कि हमें लगा कि वह सब आज हमारे लिए विशेष अर्थ नहीं रखता। एक तो इस अन्तर्विरोधोंके महाद्वीप एशियामे मध्यकालीन परम्पराने जहाँ मानवीय गौरवकी एक दिशामे प्रतिष्ठा की, वहीं दूसरी दिशाओंमें अगणित मानव-विरोधी रूढ़ियोंको मान्यता दी और इन दोनोंको इस प्रकार संलग्न कर दिया कि सारी परम्परा ही अन्ततोगत्वा असंगत लगने लगी। मानवीय गौरवकी प्रतिष्ठा करते हुए भी जो व्यवस्था स्त्री शूद्रको ज्ञानका भी अधिकारी न माने या शूद्रके तपस्या करनेपर उसे वधका अधिकारी माने, या सवर्ण और अवर्णमे भेद करे, ऐसी व्यवस्थामें

सारी परम्पराका अर्थ कुण्ठित होने लगा और केवल रूढ़ियाँ ही चलती रहीं। दूसरे क्षेत्रोंमें सामन्ती महाप्रभुओंकी कई शताब्दियों तक चलनेवाली निरंकुशताने सामान्य जनके आत्मविश्वासको तोड़ा और जब देखा गया कि धर्मान्दोलन भी उन्हीं सत्ताशालियोंका समर्थन कर रहे हैं तो धर्मान्दोलनोंकी सार्थकतामें सन्देह होने लगा। और अन्तमें जब पाश्चात्य उपनिवेशवादी आये और नये वैज्ञानिक अस्त्र और नयी पश्चिमी कूटनीति साथ लाये तब तो उस मानवीय गौरवकी रही सही सार्थकता भी समाप्त हो गयी और शोषण दमन निरंकुशता और अनैतिक सत्ताखोरीके जिन बर्बर युगोंसे होकर हम अपने वर्तमान तक पहुँचे उसमें हम यह लगभग भूल गये कि हम पहले किन शिखरोंपर पहुँच चुके थे। सिर्फ रूढ़ियाँ थीं, हीन-ग्रन्थियाँ थीं जो फोड़ोंकी तरह साथ चली आई थीं और विक्षोभ था और पराजय थी, पीड़ा थी पर उसके बावजूद इन समस्त शिकंजोंसे किसी तरह मुक्त होनेकी अदम्य इच्छा थी और उसके लिए संघर्ष करनेकी बलवती आकांक्षा भी।

उस समय जो स्वप्नोंमें डूबे रहे और वास्तविक एशियासे अपरिचित, पश्चिमके थके हुए बुद्धिजीवियोंकी कल्पनाके रहस्यवादी निष्क्रिय, शान्त एशियाको ही अपना वास्तविक चेहरा मानने लगे, उनकी बात जाने दीजिए—पर जो यथार्थदर्शी थे, वस्तुस्थितिको समझ रहे थे उन्होंने बड़ी वेदनासे इस तथ्यको पहचाना कि हमारी परम्परा महान् है इसमें सन्देह नहीं पर संक्रमणकी स्थितियोंमें पता नहीं कहाँपर, क्या छूट गया कि वह हमें एक खुमार भले दे दे, या एक उत्तेजना भी दे दे, पर आज वह अपने-आप हममें प्राणदायक उष्ण रक्तका संचार कर सकनेमें अक्षम है। इतिहासके इस संकटपूर्ण क्षणमें परम्परा हमको धारण नहीं कर सकती, परम्परा स्वतः हमको नहीं बचा सकती—सच तो यह है कि हम ही यदि चाहे तो अपने विवेकपूर्ण निर्णयसे और साहसपूर्ण आचरणसे परम्पराको बचा सकते हैं, परम्पराको—अनवरत प्रयास करके शायद फिरसे जीवित

भी कर सकते हैं। अन्यथा यह समझना कि इतिहासके इस महाशून्यमें जहाँ हम पहुँच गये हैं परम्परा अपने-आप हमको उसी तरह धारण किये रहेगी जैसे कच्छप पृथ्वीको धारण करता है, यह उस मानसिक कायरता और आलस्यका द्योतक है जो अपने गहन समसामयिक ऐतिहासिक उत्तरदायित्वको न समझना चाहती है, न उसको ग्रहण कर आचरणमें उतारना चाहती है। इसके पहिले कि हम इस गहन उत्तरदायित्वको भलीभाँति हृदयंगम कर पाते, हमारे सामने एक दूसरी ऐतिहासिक चुनौती प्रस्तुत हो गयी।

एशिया अभी अपने मुक्ति-संग्राममें ही लगा हुआ था कि शासकोंके शिविरसे यह समाचार आने लगे कि पश्चिमका सर्वतोमुखी ह्रास प्रारम्भ हो गया है। विज्ञान, धर्म, दर्शन, नैतिक, मूल्य, समाज, गठन, जातीय श्रेष्ठता, साहित्यिक स्तर सभी तेजोसे अस्त हो रहे हैं। और यह सब केवल बौद्धिक स्तरपर घटित हो रहा हो ऐसा भी नहीं, वहाँका मनुष्य तो अकस्मात् भयभीत हो उठा है, अपनेसे, अपने पड़ोसियोंसे, अपने अतीत-से, अपनी भावी नियतिसे—और उस भयने उसका नैतिक बोध छीन लिया है और सारे यान्त्रिक विकासका उपभोग वह केवल इसीलिए कर रहा है कि कैसे अधिकसे-अधिक विघातक अस्त्र ढूँढ़ निकाले और सारी मानव सम्यताको नष्ट कर दे। पश्चिममें अकस्मात् इधर भी और उधर भी ऐसी व्यवस्थाएँ पनप आई हैं जो आर्थिक सुविधाएँ देकर, या आर्थिक सुविधाएँ छीनकर मनुष्यको वस्तुधर्मी या पशुधर्मी बनानेपर तुल गयी हैं और ऐसा लगने लगा कि पश्चिमी मनुष्यने जो कुछ विकसित किया था वह सब गलत दिशामें था, और वह सब आज मानवीय गौरवको ध्वस्त करनेपर तुल गया है। और न केवल इस ख्यालसे कि अखिल मनुष्य जातिकी नियति एक है पृथक्-पृथक् खण्डोंमें विभाजित नहीं, हम एशियाके लेखक और बुद्धिजीवी यूरोपके इस संकटके प्रति जागरूक और संवेदन-शील हो उठे, वरन् ठोस ऐतिहासिक वस्तुस्थितिने इस बातका स्पष्ट संकेत

दिया कि इस वात्याचक्रसे एशिया बच नहीं सकता, और जब हिरोशिमा-पर पहला अणुबम गिरा तब अकस्मात् हमने चौंककर अनुभव किया कि हम अब तक इतिहासकी इस चुनौतीको अनसुनी करते रहे तो करते रहे पर अब इसे अनसुनी न कर सकेंगे।

वे जो राजनीतिक चिन्तक हैं, सैन्य-विशारद हैं, कूटनीतिज्ञ हैं, सत्ता-धारी हैं, उनके लिए इस ऐतिहासिक चुनौतीका अर्थ यह हो सकता है कि एशियामें अमुक व्यवस्थाको अधिकसे-अधिक फैलाओ, या उससे उसे बचाओ। पर हम जो लेखक हैं, बुद्धिजीवी हैं, चिन्तक हैं, मानव आत्माके शिल्पी हैं, हमारे लिए इस संकटका ज्यादा गहरा अर्थ है। हमारे लिए प्रश्न उस सैन्य-शिविर या उस सैन्य-शिविरका नहीं है, हमारे लिए तो प्रश्न यह है कि यह सम्पूर्ण सभ्यता जिन मूल्योंपर आधारित थी वे झूठे पड़ गये हैं, परिणाम यह है कि एक भयानक विघटन उपस्थित है, शब्द और अर्थ-के बीचमें विघटन है, आचरण और धारणाके बीचमें खाई है, भाषा अशुद्ध और अक्षम हो गई है, अनुभूतिके घरातल विक्षुब्ध हो गये हैं और मिथ्याको प्रश्रय देने लगे हैं, और परिणाम यह है कि मानवीय गौरवको कभी प्रजातन्त्रवाद और कभी जनवाद और कभी अध्यात्मवाद और कभी स्वातन्त्र्य, कभी दायित्व और कभी अलौकिकताके नामपर प्रतिक्षण आहत और पददलित किया जा रहा है। यही नहीं, बरन् हमारे बन्धु तो एक ऐसे भयानक भ्रमजालमें उलझे दीख पड़ते हैं कि वे जिन मूल्योंका नारा लगाते हैं, ठीक उसीके विपरीत आचरण करते पाये जाते हैं। स्वातन्त्र्य और मनुष्यके मौलिक अधिकारोंका प्रचार करनेवाले बसोमें, स्कूलोंमें, सड़कोंपर निहत्थे निरपराध नीग्रोंका हनन करते पाये जाते हैं, और 'संसारके मजदूरो एक हो'का आह्वान देनेवाले मजदूरोंकी न्यायसंगत हड़-तालोंको तोड़ते हुए और हजारों निहत्थे बिद्रोही मजदूरों और विद्यार्थियोंकी छातीपर टेंक चढ़ाते हुए दीख पड़ते हैं। और मानवीय गौरवके प्रति ये

भयानक पाप जिन विचारधाराओंके नामपर होते हैं वे मानव-कल्याणका दम भरती हैं। और उससे भी ज्यादा आश्चर्य और लज्जाकी बात यह है कि हमारी अन्तरात्मा इसको सहन करनेकी अभ्यस्त होती जा रही है। हम इसे चुपचाप पीते हैं या अद्भुत तर्कोंकी अवतारणा कर असंगतियोंको ढँकनेका प्रयास करते हैं।

पिछले दिनों यूनेस्कोके अधिवेशनमें पण्डित नेहरूने इसी स्थितिकी ओर संकेत करते हुए इसे Collapse of Conscience (अन्तरात्माका विध्वंस) की संज्ञा दी थी। आज निस्सन्देह एशियाके चिन्तकों, लेखकों और बुद्धिजीवियोंपर इतिहासका यह गहन दायित्व आ पड़ा है कि वे इस ध्वस्त अन्तरात्माकी पुनःप्रतिष्ठा करें। जब हम यह कहते हैं कि एशियाके लेखकोंपर यह दायित्व आ पड़ा है तो हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हमारा यह आशय कदापि नहीं है कि नैतिक स्तरपर हम अपनेको यूरोपीय या किन्हीं अन्य बुद्धिजीवियोंसे आवश्यक रूपसे उच्चतर मानें। जिन्होंने इस प्रकारकी पारस्परिक स्पर्धा और हम ऊँचे हैं कि झूठी अहंकार भावना फैलाई है, वे मूलतः उसी हीनग्रन्थिके शिकार हैं जिसके फलस्वरूप एक समयमें हम यह कहते थे कि हवाई जहाज हमने वैदिक युगमें ही खोज निकाले थे। पर फिर भी हम एशियाकी ऐतिहासिक स्थितिको दृष्टिमें रखकर कहते हैं, हम यह मानते हैं कि हमारे यहाँ अभी यान्त्रिक युगकी वह निरंकुश अमानवीयता नहीं आई है, उद्योगोंका केन्द्रीकरण उस सीमा तक नहीं हुआ। भीड़ संस्कृति अभी सर्वव्यापी नहीं हुई है, साथ-ही-साथ पिछले शोषण, पराजय और अवमाननाने हमको गहरी वेदनाएँ दी हैं, उसने कुछ ऐसे संस्कार भी दिये हैं जो महत्त्वपूर्ण हैं। मानवमूल्योंकी नवप्रतिष्ठाकी इस दिशामें यूरोपीय लेखकोंको हम अपनेसे पृथक् नहीं मानते, क्योंकि यद्यपि यह सच है कि कुछ यूरोपीय लेखकोंने पूँजीवादी व्यवस्थाकी कति-

पय असंगतियों और कुछने अधिनायकतन्त्रके दबावों और प्रलोभनोंके कारण अन्तरात्माको हिरण्यमय पात्रसे ढँक दिया (यह एशियामें भी हुआ) पर अधिकांश अपनी सीमाओं और विवशताओंके बावजूद नैतिक स्तरपर संघर्ष करते रहे और मानव-विरोधी व्यवस्थाओं और प्रवृत्तियोंसे मोर्चा लेते रहे। पर यह भी ठीक है कि उनके सांस्कृतिक संकटका अतिरिक्त और बाह्य दबाव उनपर इतना अधिक था कि उन सबके प्रयास अधूरे रह गये—रेगिस्तानमें जाकर खो जानेवाली नदियोंकी भाँति। हम एशियायी लेखक उनके उन अधूरे प्रयासोंको भी पूर्णता दे सकते हैं क्योंकि हमें इतिहासने एक आशाजनक भविष्यका नया उत्साह दे रखा है और अपेक्षा-कृत अधिक स्वतन्त्रता।

“अरेबियन नाइट्स” की एशियासे इस एशिया तककी यात्रामें कैसी अजीब मंजिलें हैं, कितने अकल्पनीय फ़ासले हैं, और ये सब फ़ासले हमने तय किये हैं सिर्फ़ सौ, डेढ़ सौ वर्षोंमें। हममें ऐसे लोगोंकी कमी नहीं है जो अब भी इस परिवर्तनके ऐतिहासिक अर्थको समझ नहीं पा रहे हैं। वे उलझे हुए हैं। अस्पष्ट हैं। समस्याओंको ग़लत परिप्रेक्ष्यमें उठाते हैं। पर यदि हमें अस्त होते हुए पश्चिमके साथ अस्त नहीं होना है तो हमें अपना ऐतिहासिक दायित्व सम्हालना ही होगा। पर इतना हमें अवश्य ध्यानमें रखना है कि इस दिशामें भी हम वे ग़लतियाँ न अपनाएँ जो यूरोपने की थीं। हममें यह ग़लत अहंकार कभी भी न आना चाहिए कि यूरोप तो क्या मानव जातिका कोई भी अंश अपनी सम्भावनाओं और धरातलमें हमसे नीचा है। हममें प्रकृति-प्रदत्त श्रेष्ठता है, ऐसा अहंकार केवल आर्य-नाजी फ़ैसिज़्मके एशियायी संस्करणको जन्म देगा। हममें उस विजेताका गर्व भी नहीं होना चाहिए जिसे लगता है कि इतिहासकी हवा उसकी ओर बह रही है अतः वह सक्षम है, समर्थ है—अतः निरंकुश है। हममें वह कट्टरता भी नहीं होनी चाहिए कि हम एक हाथमें अपने

सम्प्रदाय ग्रन्थ और दूसरे हाथमें तलवार या हथौड़ा लेकर निकल पड़ें कि हमारा मत ही एकमात्र प्रामाणिक मत है । इसमें शामिल हो वरना तलवारके घाट उतरो । हममें वस्तुतः व्यापक संवेदना होनी चाहिए कि विश्वव्यापी मानवीय विघटनकी चरम वेदनाको हम आत्मसात् कर सकें चाहे वह एशियामें हो या यूरोपमें, या अफ्रीकामें ।



निर्माणपरक दायित्व और राष्ट्र

जब हम यह कहते हैं कि हमें विश्वव्यापी मानवीय संकटकी वेदनाको आत्मसात् करना चाहिए तो इसके पीछे केवल यही तर्क नहीं है कि विज्ञानने समस्त विश्वके विस्तारको कम कर दिया है और एक क्षेत्रका संकट दूसरे क्षेत्रको अनिवार्यतः प्रभावित करता है, बल्कि यह भी है कि मानवकी अन्तरात्मा एक और अविभाजित है और उसके किसी अंशमें यदि पक्षाघात है, उसके कोष्ठकोंमें उष्ण प्राणदायी रक्त नहीं पहुँच रहा, तो दूसरे अंशका दायित्व है कि अपने साथ-साथ वहाँ भी रक्त पहुँचाये, उसे जीवन-दान दे। इसी दृष्टिसे अभी तक पश्चिममें और पूर्वमें—(और विशेषतया भारत तथा उसी प्रकारके पराधीन उपनिवेशोंमें और पश्चिमी शासकोंमें) जो मानव-विरोधी सम्बन्ध क्रायम था, जिसने मिथ्या मूल्योंको प्रश्रय दे रक्खा था, उसके स्थानपर हम सहज मानवीय धरातलपर अपने सम्बन्धोंको पहचानें और ऐतिहासिक वेदना और नियतिमें सहभागी हों, तथा मानवीय गौरवकी व्यापक प्रतिष्ठा करें।

मानवीय गौरवकी व्यापक प्रतिष्ठा करनेकी प्रक्रियामें हम यह पहचान सकेंगे कि यदि कहीं किसी भी मनुष्यके गौरवकी क्षति होती है तो वह मनुष्य मात्रके गौरवकी क्षति है। यहाँपर यह बात समझ लेनी आवश्यक है कि लेखकके इस विशिष्ट दायित्वमें राष्ट्र कोई निरपेक्ष इकाई नहीं है, राष्ट्र भी व्यापक मानव नियतिके प्रसंगमें सार्थकता पाता है। साहित्यमें राष्ट्र-निर्माणको व्यापक मानवीय नियतिकी पृष्ठभूमिमें समझना श्रेयस्कर होता है। तभी यह सम्भव हो पाता है कि हम उस उच्चकोटिके राष्ट्रीय साहित्यका निर्माण कर सकें जो मानवमात्रकी संवेदनाओंको स्पर्श कर

सके । अक्सर लोग इसे भुलाकर केवल अपना राष्ट्र, अपनी जाति, अपनी परम्पराकी बात कठमुल्लेपनके स्तरपर करने लगते हैं, तब वे वस्तुतः राष्ट्र निर्माणके मौलिक प्रतिमानको ही भुला देते हैं । अभी कहीं पढ़ा था कि जैनेन्द्रसे किसीने पूछा—“आज भारतमें साहित्यकारका क्या दायित्व होना चाहिए ?” जैनेन्द्रने अपनी विलक्षण शैलीमें उत्तर दिया—“भारतमें ? इसके क्या मानी ? साहित्यकारका दायित्व भारतमें कुछ और होना चाहिए, भारतके बाहर कुछ और, यह बात तो समझमें नहीं आती !”

इसी दृष्टिसे वह राष्ट्रीय कठमुल्लापन जो राष्ट्रकी परिधिको ही लक्ष्मण रेखा मान लेता है, और विश्वव्यापी मानवीय चेतनाके धरातलकी उपेक्षा करता है, हमारे दृष्टिकोणको संकीर्ण बनाकर वास्तविक राष्ट्रीय निर्माणमें बाधक होने लगता है । यह शताब्दियोंकी लम्बी गुलामी हममें दो विचित्र प्रतिक्रियाएँ छोड़ गयी है । या तो जो कुछ विदेशी है उस सबके प्रति हममें एक अन्धश्रद्धा जाग जाती है, या जो कुछ देशी नहीं है उस सबको हम अवश्यमेव गहित, निन्दनीय और अस्पृश्य मानने लगते हैं । ये दोनों ही अस्वस्थ प्रतिक्रियाएँ हैं, गुलामीके चिह्न हैं । जो हमारे चिन्तन और साहित्यका श्रेष्ठतम है उसकी संगति उससे न बैठ पाये जो विदेशी चिन्तन और साहित्यका श्रेष्ठतम है यह बात समझमें नहीं आती । अन्ततो-गत्वा मनुष्य तो सभी जगह एक है और उसकी नियति भी राष्ट्रीय सीमाओं या राजनीतिक शिविरोंमें बँटी हुई नहीं है । इसीलिए उस व्यापक धरातलको आत्मसात् किये बिना अगर हम राष्ट्रीय चेतनाका निर्माण करना चाहेंगे तो हम जाने-अनजाने एक ऐसी संकीर्णताके वृत्तमें आबद्ध हो जायेंगे जिसके अन्दरसे झूठे प्रतिमानोंको प्रश्रय मिलनेका खतरा पैदा हो जायगा ।

किन्तु यह तो एक गौण समस्या है । भारतीय साहित्यकार आज जब मानवीय नियतिसे सम्बद्ध अपने दायित्वका निर्वाह करनेके लिए

सम्बद्ध होता है तो उसे कुछ और कठिनाइयाँ महसूस होती हैं। उनका समाधान खोजना एक जटिल कार्य है। मध्ययुगमें साहित्यकार मानवीय नियतिसे अपना लगाव और उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करनेके लिए जिन माध्यमोंका आश्रय ग्रहण करता था, वे माध्यम उसके लिए भी उतने ही सार्थक थे जितने जनताके लिए, अतः उसे अपने दायित्वकी दिशा खोजने और उसे जनता तक पहुँचानेमें उतनी कठिनाई नहीं अनुभव होती थी। वे माध्यम थे वीरपूजा या धर्म। या तो उनका नायक कोई ऐसा महामानव पुरुष होता था जो समस्त मूल्योंको, मर्यादाओंको निजमें समाहित किये रहता था, जनता उसे आदरकी दृष्टिसे देखती थी और उसीके सुख-दुःखसे अपनी नियतिको अनिवार्यतः आबद्ध मानती थी। या फिर धर्मको पीठिकाके रूपमें ग्रहण किया जाता था और प्रभुको जातिकी नियतिके प्रति संवेदनशील दिखाकर, उनके किसी अवतारके माध्यमसे मर्यादाओंका विधान होता था, मूल्योंकी नवनव स्थापना होती थी। आज वीरपूजाका महत्त्व नहीं रहा, नायक विघटित हो चुके, धर्मके विषयमें सन्देह उत्पन्न हो गये। जहाँ धर्मको ग्रहण भी किया गया वहाँ उसके नये मानवपरक अर्थ खोजनेका प्रयास किया जाता रहा, उसे सफलता मिली या नहीं, यह बात और है।

वीरपूजा या धर्मके सन्दर्भमें जो प्रतिमान विकसित हुए थे जिनका आश्रय इन आधुनिक धर्मके चिन्तकोंने भी ग्रहण किया है, उनके मिथ्या पड़ जानेके अन्य कारणोंमें-से एक यह भी है कि वे या तो असामान्य, विशिष्ट मनुष्य (महा-मानव) को अपना केन्द्र-बिन्दु बनाते थे, या वे समस्त मानवीय नियतिकी चरम उपलब्धि लोकोत्तर सुखको मानते थे। सामान्य मनुष्य और उसका लौकिक जीवन उतना महत्त्वपूर्ण नहीं माना गया। वैसे मध्य युगमें सन्तों और भक्तोंने इस बातका अवश्य प्रयास किया है कि वे दिव्यको भी मानवीयके घरातलपर खींच लावें। पर सीमाएँ उनकी भी थीं। सहज साधना पद्धतिका सारा गुणगान करनेके बावजूद सन्त वैराग्य-

वादके घोर समर्थक रहे हैं और योगकी जटिल साधनाओंके बिना वे मनुष्यको अपरिशोधित मानते थे, उनके कारण धीरे-धीरे भारतीय जीवनमें, अन्धविश्वास, पाखण्ड, आडम्बर और चमत्कारोंको ही प्रश्रय मिला। भक्तोंका संकट तो और भी गहरा था। उन्होंने सन्तों द्वारा तिरस्कृत बहुत-सी शास्त्रीय रूढ़ियोंको भी मान्यता दे रखी थी। परिणाम उसका यह था कि जब ऋषियोंकी तपस्यामें राक्षस बाधा पहुँचाते थे तब राक्षसोंके विनाशके लिए प्रभुको अवतरित होना पड़ता था, पर जब वही तपस्या शूद्र द्वारा होने लगती थी तब प्रभुको स्वतः उसका विनाश कर तपस्या भंग करनी पड़ती थी। तपस्या महत्त्वपूर्ण नहीं थी, महत्त्वपूर्ण थी तपस्या करने-वालेकी जाति। इस प्रकार मनुष्य और मनुष्यमें भेद था। मनुष्य या उसकी नियति अपनेमे सार्थक नहीं थी, उसे सार्थकता तब मिलती थी जब उसे उच्च वर्णका या शास्त्र-सम्मत होनेका प्रमाणपत्र मिला हुआ हो। इस मनुष्य विरोधी तत्त्वका परिशमन करनेके लिए शबरी, गणिका आदिकी कथाओंका भी विधान था, पर सामान्य मनुष्यकी यह स्थापना उसी वृत्तके अन्दर करनेकी कोशिश की जाती थी जो मूलतः सामान्य मनुष्यके तिरस्कार और असाधारण दिव्यके प्रति अन्धश्रद्धापर आधारित था। इस प्रकार इस आध्यात्मिकतामें वह मनुष्य-पूजा भी थी जो हमारी सांस्कृतिक परम्पराकी श्रेष्ठतम उपलब्धि है और मनुष्यकी वह अवमानना भी थी जिससे सारा मध्ययुग बहुत प्रयास करनेपर भी छुटकारा नहीं पा सका था।

इस प्रकार आधुनिक भारतको मध्ययुगीन भारतसे विरासतमें एक ओर तो यह असंगति और अन्तर्विरोधोंसे भरी हुई आध्यात्मिकता मिली और दूसरी ओर मिली शताब्दियों पुरानी गुलामी—तीसरी ओर आधुनिक भारतका सम्पर्क पश्चिमसे हुआ जहाँ विज्ञान और भौतिक उन्नतिने मध्य-युगकी अधिकांश मान्यताएँ ध्वस्त कर दी थीं। ऐसे विचित्रसे घरातलपर

खड़े होकर हमारे साहित्यकारने पहली बार अपनी नियतिके प्रति चिन्ता व्यक्त करते हुए पूछा था—“हम कौन थे, क्या हो गये हैं—और क्या होंगे अभी ?” यह प्रश्न पूछा गया तबसे लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक हमारा देश जिस राष्ट्रीय आन्दोलनमें संलग्न रहा उसने निस्सन्देह हमारे साहित्यके पूरे स्वरको प्रभावित किया । यह प्रभाव केवल विषय वस्तुके चुनाव तक ही सीमित नहीं था, बल्कि जिन आदर्शोंको, जिन मूल्योंको, मानव नियतिकी जिन प्रक्रियाओंको साहित्यमें उठाया गया वे बहुत कुछ ऐसी प्रवृत्तियोंको प्रतिबिम्बित करती हैं जिनका उद्गम हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनकी विभिन्न धाराओं और उपधाराओंमें पाया जा सकता है । यह दशा केवल भारतकी ही हो यह बात नहीं है । पश्चिममें भी यही दशा थी । टामस मैनने कहीं कहा है कि “ऐसा ज्ञात होता है कि इस युगमें मानव नियतिको राजनीतिकी परिभाषाओंमें ही समझा जा सकता है ।”

समस्त संसारमें राजनीतिने एक काम किया था—आधुनिकताने वीर-पूजा और धर्मको तो तिलांजली दे दी थी पर मध्ययुगीन वीर पूजाकी मान्यता और धर्मका कट्टर भावावेश—इन दोनोंको राजनीतिने अपनेमें समाहित कर लिया था । परिणाम यह हुआ कि राजनीति वीर-पूजा और धर्मका स्थापनापन्न बन बैठी और कई देशोंमें उसने धीरे-धीरे विज्ञान और दर्शनको भी अपना अनुचर बनानेका प्रयास करना प्रारम्भ किया । हमारे देशमें महात्मा गाँधीने राजनीतिको नैतिक प्रतिमानोंसे सम्बद्धकर जो एक नया प्रयोग किया उसकी अपनी विशेष उपलब्धियाँ भी थीं और उसके अपने अभाव और सीमाएँ भी । उस युगका जितना साहित्य है उसकी उपलब्धियाँ और उसके अभाव आश्चर्यजनक रूपसे उस गाँधीवादी राजनीतिकी उपलब्धियों और अभावोंसे मेल खाते हैं । लेकिन पिछले दस वर्षोंमें, न केवल विदेशोंमें, वरन् भारतमें भी राजनीतिका महत्त्व घटा है । “मानव नियतिको केवल राजनीतिकी परिभाषाओंमें ही समझा जा

सकता है", सत्य इसके विपरीत ही सिद्ध हुआ। राजनीतिकी कई चिन्तन-धाराओंने बीसवीं शताब्दीके आरम्भमें यह दावा पेश किया था कि वे मानव मुक्तिको ही लक्ष्य बनाकर चल रही हैं पर उन्होंने जिन व्यवस्थाओंको स्थापित किया उनको जनतन्त्रका नाम तो अवश्य दिया, पर अधिकांश व्यवस्थाओंमें तन्त्र औरोंके ही हाथमें रहा 'जन' तो ज्योंका-त्यों दास बना रहा। यह बात केवल विदेशोंपर ही लागू नहीं होती दुर्भाग्यवश यह कटु सत्य हमारे देशपर भी लागू होता दीख रहा है।

इसीलिए आज भारतमें भी जो साहित्यकार मानवनियतिके सन्दर्भमें राष्ट्रके नव-निर्माणके प्रति अपना दायित्व अनुभव करता है, उसके लिए सबसे प्रमुख चिन्ता हो जाती है—'सामान्य जनकी मुक्ति'। भारतकी स्वतन्त्रता तबतक सार्थक नहीं है जब तक सामान्य जन स्वतन्त्र नहीं है। सामान्यजनके स्वतन्त्र होनेका अर्थ यही नहीं है कि उसे भरपेट भोजन जरूरतके मुताबिक कपड़ा मिल जाय। यह भी है तथा इसके अलावा और बहुत कुछ भी हैं। उसके मानसमें जो अन्ध रूढ़ियाँ हैं, कुण्ठाएँ हैं, अविवेक है, मूर्च्छना है, मृत परम्पराएँ आदि प्रवृत्तियाँ हैं, जिसके कारण वह युग-युगसे दास बनता चला आया है—उनसे भी उन्हें मुक्त कराना है। इस दृष्टिसे स्वातन्त्र्य न केवल एक बाह्य परिस्थिति है, वरन् एक आन्तरिक मूल्य भी है और जब साहित्यकार सामान्यजनके स्वातन्त्र्यका दायित्व लेता है तो वह सम्पूर्ण बाह्य और आन्तरिक जटिल मानवीय यथार्थकी पृष्ठ-भूमिमें उसे ग्रहण करता है, केवल सीमित राजनीतिक अर्थमें नहीं।

किन्तु सामान्यजनके प्रति उसका यह दायित्व और मानवीय यथार्थको समस्त जटिलतामें ग्रहण करनेका उसका यह प्रयत्न अनिवार्य रूपसे राज-सत्ताके समर्थनमें ही हो यह आवश्यक नहीं। वैसे तो जनतन्त्रमें प्रत्येक राजनीतिक दल और प्रत्येक राजसत्ताका दावा यही होता है कि वह भी

सामान्यजनकी मुक्तिके लिए यत्नशील है किन्तु राजनीतिका मार्ग-साहित्यकारके मार्गसे अभिन्न ही हो यह आवश्यक नहीं। यही नहीं, बल्कि राजसत्ताओके द्वारा अनुमानित और प्रचारित जनहितकी धारणा वही हो जो साहित्यिककी है, यह भी आवश्यक नहीं ! इसीलिए हर हालतमें राजसत्ताके समक्ष लेखकको अपनी स्वतन्त्र स्थिति बनाये रखनी चाहिए, चाहे इसके लिए उसे जो भी मूल्य चुकाना पड़े। उसका दायित्व सामान्य जनके प्रति है, राजसत्ताके प्रति नहीं। वह प्रजातन्त्रका, जनतन्त्रका जागरूक लेखक है, राजसभाका उद्घोषक नहीं।

पर इस दायित्वकी पूर्तिमें एक तत्त्व और है जो बाधक होता है। काव्य-सम्बन्धी भ्रान्तियोंमें-से एक यह भी रही है कि कवि सामान्यजनसे बहुत ऊपर एक असाधारण प्राणी होता है, मनीषी होता है, द्रष्टा होता है। यह मनीषी या द्रष्टा होना केवल उसीकी नियति है, सामान्यजन उससे वंचित है। यह धारणा उस मानसिक कैशोर्यका आश्रय लेकर और भी पनपी जो छायावाद-युगका प्रमुख भावस्तर रहा है। उसका परिणाम यह हुआ कि उसने अपनी नियतिको सामान्य जनकी नियतिसे पृथक् माना, सामान्यजनका जो भी हो, वह तो अपने साधना कक्षमें सीधे असीम या अवतरित होती हुई दिव्य चेतनासे अपने हृदयके तार जोड़कर पूर्णत्वकी उपलब्धि कर लेता है। पूर्णत्वकी प्राप्ति हुई हो या न हुई हो पर समवेत मानवीय नियतिसे अपना एकात्म न स्थापित करनेसे उसका सम्बन्ध सूत्र मानवीय यथार्थसे तो बुरी तरह कट गया।

छायावाद युगके इस अनुभवके बाद भी इधर अक्सर रहस्यवादकी आवाज फिर उठते हुए सुन पड़ती है। इधर एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य देखनेमें आया कि 'देश स्वतन्त्र हो गया, अब पटह रखकर मुरली उठा लेनी चाहिए और भौतिकतासे आक्रान्त विश्वको रहस्यवादका सन्देश देना चाहिए।' बड़ा आश्चर्य हुआ। पर फिर सोचनेपर

लगा, इसमें आश्चर्यकी बात नहीं, यह थकानका स्वर है। बहुत लड़े भाई, अब तो थोड़ी बाँसुरी बजे। स्वाभाविक है। जहाँ लेखकने सामान्य जनकी नियतिसे अपनी नियतिको पृथक् किया कि यथार्थका सूत्र उसके हाथसे छूटा और जब जनके प्रजाके यथार्थसे वह विच्छिन्न ही हो गया तब उसके लिए दो ही रास्ते बचे—राज्याश्रय या रहस्यवाद ! रहस्यवादमें जनकी लोककी नियतिसे आपको क्या लेना देना, आप तो सीधे लोकोत्तरका साक्षात्कार करना चाहते हैं। राज्याश्रयमें आपको प्रजासे क्या—राजाकी कृपा मिलती जानी चाहिए। मध्यकालमें राजाश्रय और रहस्यवादमे वैषम्य माना जाता था—संतन कहा सीकरी सन काम। लेकिन पंचवर्षीय आध्यात्मिक प्रगतिने इस अन्तरको भी मिटा दिया है। रहस्यवाद अब एक सुविधाजनक आरामदेह साधना है।

आन्तरिक मूल्योंकी बात तो समझमे आती है, सामान्य जनकी आन्तरिक मुक्तिकी बात कही भी जा चुकी है, पर यह रहस्यवादी अध्यात्म, यह लोकोत्तरकी साधना एक अयथार्थ काल्पनिक स्वप्नजालका ही आभास देती है। वास्तवमें इस लोकके परे कुछ है या नहीं, इसका निरूपण योगी और साधक करें पर साहित्य-सृजनका आधार तो मनुष्यका लौकिक यथार्थ ही है। मध्यकालीन साहित्यमें भी वही अंश सजीव और संप्राण है जहाँ इस लोकका प्राणी बोल उठा है, परलोकका द्रष्टा नहीं।

पर इस रहस्यवादकी फिरसे उठानेवाली आवाज़का वास्तविक मर्म हम पहचान सकते हैं, यदि हम यह जान लें कि रहस्यवादका प्रयोग अविवेकके अर्थमें भी किया जाता रहा है। इस विषयमें हम पीछे सकेत कर चुके हैं। क्या कहीं ऐसा तो नहीं है कि स्वतन्त्रता प्राप्तिके बाद हम गांधीवादी युगकी सारी उपलब्धियों और अभावोंके समवेत प्रभावसे किसी ऐसे विन्दुपर पहुँच गये हैं जहाँसे आगे हमें राह नहीं दीख रही है और यदि राह दीखती भी है तो हमारा कला-व्यक्तित्व अब इतना समर्थ नहीं

रह गया है कि वह उस राहपर बढ़ सके । परिणाम स्वरूप हम स्थितिका सामना न करके अविवेककी खोलमें छिपनेकी कोशिश करते हैं और उसे 'रहस्यवाद' और 'भारतीय परम्परा' आदिकी बड़ी-बड़ी संज्ञाएँ प्रदान करते हैं । कहीं ऐसा तो नहीं है कि विवेक और साहसके अभावमें हम योजना और निर्माण आदिका नाम तो बहुत लेते हैं पर वस्तुतः हम अपनी साहित्य चेतनामें केवल हाथी दाँतकी ऐसी मीनारें निर्मित करते चले जा रहे हैं जिनमें हम आरामसे बैठकर दायित्व, उसके सघर्ष और उसकी पीड़ासे बच सकें ?

हाथी दाँतकी भारतीय मोनारें

एक ज़माना गुज़र गया जब अपने एक अध्यापकके यहाँ आनेवाले एक अंग्रेज़ी साप्ताहिकमें पहली बार यह फ़िकरा पढ़ा था—‘आर्टिस्ट्स इन आइवरी टावर’—हाथीदाँतकी मोनारोंमें बैठे हुए कलाकार । इसका सही अर्थ तो उस उम्रमें क्या समझता, पर किशोर मनके आगे एक चित्र उभर आया—चिकनी चमचम, नक्काशीदार खिलौने जैसे हाथीदाँतकी मोनार, जिसमें-से झाँकता हुआ एक सुकोमल कलाकार । फिर देर तक सोचता रहा कि यह मोनार है कहाँ ? इसमें बैठा हुआ कलाकार है कौन ? वह उसमें पहुँचा किधरसे ? उसके उतरनेकी सीढ़ियाँ कहाँ हैं ? आखिर उसे सूझी क्या कि मोनारमे जाकर बैठ गया !

बादमें धीरे-धीरे यह जाना कि यह तो केवल एक रूपक है, कोई सचमुचकी मोनार नहीं है । यह मोनार तो हर कलाकारके अन्तर्मनके चारों ओर बन जाती है, जब वह यथार्थको न देखकर कल्पित स्वप्नजालोंमें उलझ जाता है, झूठे मूल्योंको प्रश्रय देने लगता है, आत्म-प्रवंचनाकी सीढ़ियोंपर चढ़कर सहज धरातलको छोड़कर ऊपर टँग जाता है । अपनी बौद्धिक रिक्तताको सिद्धान्तोंका जामा पहनाकर उसीको कल्याणकारी माननेकी घोर चेष्टामें रत हो जाता है, तब कहीं-न-कहीं उसकी प्रेरणा और सृजन-प्रक्रिया दोनों ही झूठी पड़ने लगती हैं और परिणाम यह होता है कि उसके तर्क और कृतियाँ दोनों ही बाहरसे गठनका आभास देते हुए भी अन्दरसे बिलकुल निर्जीव पड़ने लगती हैं, उसमें दम नहीं रह जाता ।

बादमें और विस्तारमें पढ़नेपर यह भी जाना कि उन्नीसवीं शतीके जिन कलाकारोंके बारेमें पहले-पहल यह हाथीदाँतकी मोनारोंवाला फ़िकरा

गढ़ा गया था, उनका पुनर्मूल्यांकन होनेपर लोग इस नतीजेपर पहुँचे हैं कि उनका “कला कलाके लिए” वाला सिद्धान्त तो वास्तवमें बढ़ती हुई व्यावसायिकताके प्रति विद्रोहमात्र था—वे कलामें जीवन्त प्रेरणाओंके उतने विरोधी नहीं थे जितने कलापर व्यावसायिकताके बढ़ते हुए पंजोंके । उन्नीसवीं शताब्दीवाली वे मीनारें तो संकीर्ण, समीक्षा-दृष्टिकी गलतफ़हमी मात्र साबित हुई, लेकिन बीसवीं शतीमें ऐसी मीनारें बनानेके नये-नये ढंग ईजाद हुए, और जहाँ तक हमारे हिन्दी-साहित्यका सवाल है, हम और किसी बातमें चाहे पिछड़े हों पर इस दिशामें हम निस्सन्देह सबसे आगे साबित होंगे । यहाँ तो ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धिक क्षेत्रमें भारी बहुमतसे यह निश्चय कर लिया गया है कि यथार्थका, वास्तविकताका सामना तो हम नहीं ही करेंगे, जो युगकी ज्वलन्त समस्या है उसे तो नहीं ही उठायेंगे, चाहे उससे कतराकर निकलनेके प्रयासमें हमें कितनी ही असंगतियाँ निभानी पड़ें, तर्कोंकी चाहे कितनी घुमावदार भूलभुलियोंमें भटकना पड़े, चाहे जैसे अप्रत्याशित समझौते करने पड़ें, चाहे जितने सिद्धान्तहीन अनुचित आग्रह प्रस्तुत करने पड़ें । एक सांस्कृतिक धुन्धका दायरा अपने चारों ओर बनाकर, उस मीनारमें अपनेको बन्दकर—मृत्यों और प्रतिमानोंकी इस गहरी उथल-पुथलके ज़मानेमें कैसे हम सबसे पहले अपने और अपने साहित्यिक कैरियरको सुरक्षित और पेटेन्ट करा लें इसकी चिन्ता आज युगकी प्रमुख चिन्ता बन गयी है—और यह प्रवृत्ति जितने रूपोंमें अपनेको व्यक्त करती है, उतनी ही नयी-नयी मीनारें चारों ओर उठती दीख पड़ती हैं । एक ज़माना था क़िले और मीनारें बनवानेके लिए किसी-न-किसीकी बलि देना आवश्यक होता था । आज ले-देकर एक वही मानव विवेक बाक़ी बच गया है और हर मीनारवाला पहले उसकी बलि चढ़ाता है ।

आश्चर्य होता है । अभी-अभी हमने राष्ट्रीय जीवनका एक दौर देखा है, वह त्याग, तपस्या, निष्ठा, आत्मदान, सेवा, सत्यपर आग्रह, विराट्के

आत्मसात् और—“यदि तुम्हारी पुकारपर कोई नहीं आता, तब एकला चलो रे” की जाज्वल्यमान परम्परा अकस्मात् इस रिक्तता, ह्लासोन्मुखता, निर्वीर्यता, पलायन, दिग्भ्रम और करुणोत्पादक विवेकहीनतामें कैसे बदल गयी यह सहसा समझमें नहीं आता ! लगता है जयद्रथ-वधके बाद गाण्डीव-की टकार अभी शान्त भी नहीं हुई कि अकस्मात् अर्जुन वृद्ध हो गया—और इतना ही नहीं जब यदुकुलकी स्त्रियोंपर उसने अपनी आँखोंसे दस्युओं द्वारा अनाचार होते देखा और वह कुछ भी न कर सका तो वह ग्लानि और पश्चात्तापसे आहत नहीं हुआ वरन् उसने अपने विवेक और साहसको तिलांजलि देना श्रेयस्कर समझा और बोला—“मैं मानवतावादी हूँ मेरी सहानुभूति तो दस्युओंसे भी है, वे भी तो मनुष्य हैं ।” या उसने कहा—“दस्युओंपर आक्रमण या स्त्रियोंके क्रन्दन इन दोनोंके अतिरिक्त कोई तीसरा रास्ता निकलना चाहिए ।” या उसने कहा—“इस विवादमें पड़नेसे क्या लाभ, हमें अपना काम करना चाहिए !” या उसे कायर न समझा जाय इसके लिए उसने दस्युओंसे कुछ न कहा, अपने भाइयोंको जोर-जोरसे धमकियाँ देता हुआ, गालियाँ देता हुआ उन्हें कौरवोंका एजेण्ट साबित करनेपर तुल गया—और जब ये सभी मीनारें कमजोर साबित हुई तो अन्तमें वह आँख बन्द कर, नाक बन्दकर प्राणायामकी मुद्रामें बैठ गया और बोला—“हमारी तो परम्परा रहस्यवादकी है, भौतिकवादने तो इन दस्युओंको पैदा किया है ।” नये महाभारतके इस विचित्र समकालीन अध्यायको चारों ओर देखकर, पढ़कर, समझकर, और अनुभवकर चुप रह जाना पड़ता है—यह सब दुःखद है या हास्यास्पद नहीं कह सकता, पर यह सब विवेकहीन तो अवश्य है । बौद्धिक खोखलेपनका परिचायक अवश्य है ।

२

पर यह बौद्धिक खोखलापन तथा इसके अनिवार्य परिणामके रूपमें पनपनेवाली ये असंगतियों और उनसे मुँह बचानेके लिए खड़ी की जानेवाली

मीनारें—ये सब अप्रत्याशित हैं, आकस्मिक हैं, रातोंरात साहित्य क्षेत्रमें पनप आई हैं—ऐसा कहना ऐतिहासिक कारणोंकी उपेक्षा करना होगा। इन मीनारोंकी नीवें ज्यादा गहरी हैं। अपने राष्ट्रीय जीवनके जिस दौरसे हम अभी-अभी गुज़रे हैं—उसमें सब कुछ अच्छा-ही-अच्छा नहीं था, बहुत कुछ ऐसा भी था जिसने हमारी चेतना और अनुभूतिमें अजीब-सी दरारें डाल दी थीं, पर उस समय हम एक बहुत महत्वपूर्ण संघर्षमें लगे थे अतः हम उनकी ओर समुचित ध्यान न दे सके। पर विघटनकी ये दरारें बढ़ती गयीं और उन्हींमें इन मीनारोंकी नीवें भी पड़ती रहीं। वे दरारें कैसी थीं, कैसे हमारी भावना और चिन्तनके क्षेत्रोंमें वे एक विघटन उत्पन्न करती रहीं, और क्यों उस समय हमें उन्हें दरगुज़र कर जाना पड़ा और आज अकस्मात् वे कैसे अनावृत होकर अपने समस्त भयंकर परिणामोंको साथ लेकर सामने खड़ी हो गयी हैं, इसका विश्लेषण जितना आवश्यक है उतना ही रोचक भी। उसके विस्तारमें जा सकना तो कठिन है किन्तु उसके कुछ प्रमुख पहलू लिये जा सकते हैं जिन्होंने हमारे साहित्यके युगबोधको विशेष रूपसे प्रभावित किया है।

इस विघटनका आधार-बिन्दु वह था जहाँ संघर्षकी जल्दबाजीमें जनके सहज यथार्थ बोधको विकसित न कर हम नायक पूजामें लग गये थे। सत्याग्रह युगकी इस नायक पूजाकी प्रवृत्ति और उससे उद्भूत छायावादी और प्रगतिवादी हीरो, तथा नये साहित्यमें हीरोके निर्वासनका संकेत कई लेखकोंने किया है। (विशेषतया श्री विजयदेवनारायण साही तथा स० ही० वात्स्यायनने। देखिए “युग परिवर्तन और हिन्दीकी दो पीढ़ियाँ”—‘राष्ट्र वाणी’ और एशियायी लेखक सम्मेलनमें वात्स्यायन द्वारा प्रस्तुत हिन्दीकी रिपोर्ट।) पर प्रश्न यह उठता है कि यह विवेकहीन नायकपूजा जो आज इतनी विचित्र लगती है, उस समय क्यों इस व्यापक रूपसे मान्य हुई? वास्तवमें उस समय उसकी एक उपयोगिता थी। हमारा देश राष्ट्रीय

संघर्षमें लगा हुआ था। अपने राष्ट्रीय पुनरुत्थानकी सही सांस्कृतिक भूमिका तो यह होती कि भारतका प्रत्येक नागरिक सजग होता, विवेक-युक्त होता, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक कुण्ठाओंसे मुक्त होकर वह स्वतः सही मूल्योंकी खोज करता, स्वतः अपने सिद्धान्त, अपने नैतिक प्रतिमान, अपनी विकास दिशा खोजता और उस ओर अग्रसर होता, पर यह एक लम्बा दुस्साध्य रास्ता था। भारतका सामान्य-जन सदियोंसे गुलाम था, स्वतन्त्र चिन्तन और स्वाभिमान खो चुका था। आर्थिक और सामाजिक बेड़ियोंमें जकड़ा हुआ था। तनकर खड़े होनेमें डरता था, फिरंगीकी सर्वशक्तिमान् समझता था—और राष्ट्रीय संग्रामका वह दौर आ गया था कि राष्ट्र-नायकको बिजलीके तेजीसे इन्हीं गुलाम पुतलोंमें जान फूँककर इन्हें योद्धा बनाकर खड़ा कर देना था—और इतिहासकी माँग थी कि इनके आन्तरिक विकासकी लम्बी प्रक्रिया पूरी होनेकी प्रतीक्षामें समय नष्ट नहीं किया जा सकता, विगुल बज चुका है। ऐसी स्थितिमें एक शार्ट कट समाधानके रूपमें हमें नायकपूजाको स्वीकार करना पड़ा। साधारण जनमें अगर खुद अपना कुछ नहीं है तो कम-से-कम नायकके असाधारण गुणोंमें ही वह गौरव कर सके, आत्मविश्वास नहीं है तो कम-से-कम नायक-में ही विश्वास कर सके। इसकी एक तत्काल उपयोगिता थी, इसे न केवल राजनैतिक नेता, वरन् हमारे साहित्यकार भी स्वीकार करते थे। जयशंकर प्रसादने अपने एक नाटककी भूमिकामें स्पष्ट स्वीकार किया था कि नाटकोंमें इतिहासका चित्रण वे इसीलिए करते थे कि हमारी गुलाम जातिमें आत्म-सम्मान जाग सके—और इतिहासके चित्रणके अर्थ थे महान् नायकोंका चित्रण—गौतमबुद्ध, स्कन्द, चन्द्रगुप्त, चाणक्य।

पर इस नायक पूजाका जो अनिवार्य परिणाम था, विवेकका ह्रास—उससे हमारी चेतना और भावभूमि कैसे बचती? युगके सहज यथार्थका रूप तो निखर नहीं पाया था, हाँ, उसपर भव्यताका घटाटोप जरूर छा गया। सामान्य जनकी तो बात दूर—बुद्धिजीवी वर्ग भी इस नायककी

छत्रछायामें अपना पूर्णविकास नहीं कर पाया और केवल नायकके एक आरोपित महान् व्यक्तित्वको लबादेकी तरह ओढ़कर बैठ गया। उसके व्यक्तित्वका विकास तो तब होता जब वह अपनेको औरोंकी तरह एक अति सामान्यजन समझकर मात्र विवेकका संबल लेकर कठोर यथार्थसे खुले आम टकराता और उसमें उसे जिन मूल्योंकी उपलब्धि होती उन्हें आत्मसात् करता, फिर उनपर पूरी निष्ठासे टिकता और उनके लिए अपनेको किसी भी खतरेमें डालनेमें हिचकिचाता नहीं। इन साहसपूर्ण अभियानोंमें उसे जो दुःख और पीड़ा और अन्य अनुभव मिलते वे उसे आन्तरिक रूपसे ठोस और समृद्ध बनाते चलते। उसमें एक धुरी होती, उसमें एक व्यक्तित्व होता। पर यह सब कुछ नहीं हुआ। उसने न मूल्योंकी खोज की, न अपने व्यक्तित्वको खतरेमें डाला। न कठोर यथार्थसे टकराया, न अपनेको सामान्य जन माना। उसने तो एक महत्ताका लबादा ओढ़ लिया जिसमें सलमें सितारोंकी तरह मूल्य और आदर्श और सिद्धान्त टँके हुए थे—चाहे उस लबादेके नीचे उसकी कुंठाएँ और विकृतियाँ ही क्यों न छिपी मिलें। आज युग बदल गया है, हमें यह सब आडम्बर और साहसहीनता लगती है, रीढ़ और धुरीका अभाव लगता है, उस समय इसीके लिए हमने कविको मनीषी, द्रष्टा और परिभू स्वयम्भू घोषित किया था।

यह व्यक्तित्वहीन लबादाधारी बुद्धिजीवी जो विकसित हो गया था, (वह लबादा चाहे बापूका हो या गुरुदेवका—) एक ओर तो वह स्वतः सामान्य जनके यथार्थसे पूर्णतः असम्पृक्त था, पर दूसरी ओर सामान्यजन भी एक विचित्र सांस्कृतिक संकटसे ग्रस्त था। वह सदियोंसे सोया था, वह जागे, तनकर खड़ा हो, पूरी तरह आँखें खोलकर चारों तरफ़ देखे और अपने हर कदमको तौलकर विवेकपूर्वक रखे, इसका समय ही नहीं था, संघर्ष सरपर था, नतीजा यह था कि उसकी अर्द्धमूर्च्छित भावनाओंको वशमें कर अध-सोये, अधजागे हिप्नोटाइज्ड रूपमें उसे आगे बढ़ा ही ले जाना था किसी तरह भी हो। विवेक जागकर अपने मूल्य खोजे फिर उसके अनुसार कर्ममें

रत हो इसका मौका ही नहीं था ।—कर्म, मात्र कर्म—विवेक हो या न हो ! मूल्य सही हो या ग़लत हो ! संगति बैठे या असंगति उत्पन्न हो जाय, पर जो काम पूरा होना है वह हो ! हम राष्ट्रीय चेतनाका निर्माण करनेमें लग गये थे पर बुनियादी मूल्योंपर सोचनेका अवसर ही नहीं था, हमने राष्ट्रीय अभियानकी सीमाएँ तय कर दी थीं पर उन दिशाओंमें हमें क्यों चलना है इसपर हमने विचार ही नहीं किया था, विवेक असहाय एक कोनेमें खड़ा था और इतिहासका जलूस तेज़ीसे लहराता चला जा रहा था । यह एक खतरनाक स्थिति थी जिससे विवेक ध्वस्त हो गया था, हमारे कर्म और हमारी भावनाओंमें एक विघटन उत्पन्न हो गया और हम केवल एक नायकके आरोपित व्यक्तित्वपर घमण्डसे फूल रहे थे । जिनपर मध्यकालीन भव्यताका घटाटोप छाया था वे तो इस जलूसकी जयध्वनियोंपर किलकारियाँ लगा रहे थे, उछाल-उछालकर लबादोंका प्रदर्शन कर रहे थे पर जो बुद्धिजीवी उस युगके इस आन्तरिक असामञ्जस्य और विघटनके खतरेको पहचान रहे थे, साथ ही इसे अनिवार्य मान रहे थे, वे कभी-कभी बुरी तरह बेचैन हो उठते थे । एक बुद्धिजीवीने उस समयके बारेमें स्पष्ट लिखा है :—“हम अपनेको आधुनिक कहते थे और प्रगति और उद्योगीकरण और रहन-सहनके ऊँचे स्तर और सामूहीकरणकी परिभाषाओंमें सोचते थे—हम कैसे राजनीतिमें गाँधीजीके साथ हो गये और हममें-से कुछ तो उनके श्रद्धालु अनुयायी हो गये ? इस सवालका जवाब देना कठिन है, जो गाँधीजीको नहीं जानते, उनको तो कोई भी उत्तर सन्तुष्ट न कर सकेगा । व्यक्तित्व एक ऐसी वस्तु है जिसकी व्याख्या ही नहीं हो सकती । एक विचित्र शक्ति जो मनुष्योंके हृदयोंपर कब्जा कर लेती है—और उनमें यह शक्ति प्रचुर मात्रामें है । वे जो सब उनके सम्पर्कमें आते हैं उनको उसका एक और पहलू दीख पड़ता है ।” वे उनके जीवन दर्शनसे और उनके विभिन्न आदर्शोंसे भी सहमत नहीं हो पाते थे । कभी-कभी वे उनको समझ नहीं पाते थे पर वे काम करनेका जो सुझाव रखते थे वह ग्राह्य

प्रतीत होता था जिसको दिमागसे भी सोचा और समझा जा सकता था । हम उस वक्त काम करना चाहते थे कोई भी काम ! और हमारी रीढ़हीन राजनीतिने निष्क्रियताकी जो लम्बी परम्परा पाल रखी थी उसके बाद कोई भी वीरतापूर्ण प्रभावित करनेवाला कर्म जिसके चारों ओर एक नैतिक प्रभामण्डल भी हो—वह हमारे दिल और दिमागको पूरी तरह खींच लेता था । ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते थे त्यों-त्यों वे हमें कायल करते जाते थे कि जो हम कर रहे हैं वही ठीक है । हम उनके साथ थे । यद्यपि हम उनके जीवन दर्शनको नहीं स्वीकार करते थे । कर्मको उसके आधारभूत चिन्तनसे अलग कर देना एक वांछित प्रक्रिया नहीं थी और लाजमी था कि बादमें उससे एक अन्तर्द्वन्द्व और संकटकी स्थिति आ जाय ।” (आटोबायग्राफी-दिल्ली पैक्ट) ।

उस युगमें संघर्षकालीन स्थितिके कारण कौन-सी दरारें, कौनसे आन्तरिक विघटन आ गये थे और उनसे भविष्यमें कौन-सा द्वन्द्व और संकट उत्पन्न हो जायगा इसका आभास इस बुद्धिजीवी राष्ट्रीय कार्यकर्ताको लग रहा था और वह समझ रहा था कि हमने संघर्षकी जल्दबाजीमें विवेक और चिन्तनको ताकपर रख दिया है । उसने सन् १९३९ में लिखा—“फ़िकरे ओर नारे आज हमारे खतरनाक साथी बन गये हैं क्योंकि वे स्पष्ट चिन्तन और सुनियोजित लक्ष्यों और साधनोंसे अन्तर्ग्रथित नहीं हैं । हममेंसे अधिकांश तो सोचनेका कष्ट ही नहीं उठाते !” (यूनिटी आफ़ इण्डिया पृ० ९४) ।

उस सत्याग्रह युगके मानसिक स्तरप रये टिप्पणियाँ और किसीकी नहीं स्वतः पण्डित नेहरूकी हैं, और पंडित नेहरू उस समय उस पीढ़ीका प्रतिनिधित्व कर रहे थे जो अपनेको आधुनिक कहती थी, इसीलिए मध्यकालीन प्रवृत्तियोंके घटाटोपमें आधुनिक दृष्टिकोणसे जो विघटन हमारी अनुभूति और चेतनामें आ रहा था उसके प्रति वे रह-रहकर चिन्तित हो उठते थे ।

इसी विघटनके कारण हमारा साहित्य-मानस भी बौना और कुण्ठित रह गया था, क्योंकि उनमेंसे भी अधिकांश ऐसे थे जो “सोचनेका कष्ट भी नहीं उठाते थे।” फिर भी उन्होंने द्रष्टा और मनीषी होनेके बड़े-बड़े लबादे लाद रखे थे, इसका संकेत हम कर चुके हैं। हमारा जन-मानस भी पूर्णतया सचेत और जाग्रत नहीं था, वह हिप्नोटाइज्ड था, उसके कर्म भी विवेक सम्मत नहीं : हिप्नोटिक थे। विवेकके द्वारा सही मूल्य खोजे जायें और उनपर दृढ़ रहा जाय इसका प्रश्न ही नहीं उठता था। इसका समय ही नहीं था। जो कुछ भी संग्राममें श्रेयस्कर हो वह उचित है चाहे वह कितना ही असंगतिपूर्ण, अन्तर्विरोधपूर्ण क्यों न हो। परिणाम यह होता था कि एक ओर हम खिलाफतके आन्दोलनमें भी साथ देते थे और दूसरी ओर विलायत जाते हुए गंगाजल भी साथ ले जाते थे—एक ओर अहिंसाको अपनी राष्ट्रीय परम्परा और संसारको भारतकी अमूल्य देन भी मानते थे और दूसरी ओर नेताजी द्वारा आयोजित विराट् आज़ाद हिन्द फौजपर भी गर्वसे फूल उठते थे, यद्यपि उसका सारा आधार हिंसापर था। पर ये सारेके-सारे अन्तर्विरोध खप जाते थे, क्योंकि अपने विवेकको न हमने उधर लागू किया था, न इधर—आधारभूत मूल्यको न हमने उधर स्वीकार किया था और न इधर—राष्ट्रीय संग्राममें अगर इससे लाभ होता है तो यह सब जायज है, यह सब नैतिक है, यह सब महान् है।

पण्डित नेहरूने कहा है कि कोई भी कर्म जायज था चाहे वह हमारे विवेकसे मेल न खाता हो, पर यदि उसके चारों ओर प्रभामण्डल हो। नैतिकताका और चिन्तनके नितान्त अभाव और अविवेकको छिपानेवाले इस नैतिकताके प्रभामण्डलकी अजीब-अजीब किरणें थीं—अनेकतामें एकता, मानवताकी जययात्रा और सबसे बढ़कर रहस्यवाद और छायावादका वह ब्रह्म जिसमें हर अन्तर्विरोध छिपा हुआ था और इसीलिए वह महान् था और महान् था वह कवि भी जिसमें इसी ब्रह्मका अंश था और जिसमें

तमाम अन्तर्विरोध उसी प्रकारसे पल रहे थे । उसके कुण्ठाजन्य अन्तर्विरोधोंसे मिलनेवाले आनन्दको अगर ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया तो क्या आश्चर्य ?

३

लेकिन अन्तर्विरोध, असंगति, अविवेक, आन्तरिक रिक्तता और विघटनको ऊपरसे ढँक लेनेवाला यह नैतिक प्रभामण्डल जब भी क्षीण पड़ेगा तभी अन्तर्द्वन्द्व और संकटकी स्थिति आयेगी—यह उसी समय महसूस किया गया था । और वह स्थिति शीघ्र ही आई । ज्योंही संघर्षका युग समाप्त हुआ और सत्ताका युग आया त्योंही यह ऊपरी भव्यता और प्रभामण्डल अकस्मात् निस्तेज पड़ने लगा और सारी परिस्थितिमें अन्तर्निहित असंगति और अविवेक स्पष्ट दिखने लगा । इस प्रभामण्डलके फीके पड़नेके पहले चिह्न तो सन् ३९ के ही लगभग दीख पड़े थे । जब पहली बार राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डल बने थे उस समय भी महसूस किया जाने लगा था कि—“राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डल पुराने तौर तरीक़ेमें अपनेको ढाल रहे हैं और उन्हींको उचित साबित करनेकी कोशिश करने लगे हैं । यह सब हालाँकि बुरा है मगर बर्दाश्त किया जा सकता है पर उससे भी बुरा यह है कि इतनी मेहनतसे हमने जो जनताके दिलमें ऊँची पोजीशन बनाई है उसे हम धीरे-धीरे खोते जा रहे हैं । हम पेशेवर राजनीतिज्ञोंके स्तरपर उतार दिये गये हैं !” —(१९३९ में गाँधीजीके नाम लिखे गये नेहरूजीके एक पत्रमें) ।

पर अकस्मात् यह हुआ क्यों ? कैसे ? आन्तरिक विघटन जो अब दिखने लगा था, वह पहले भी था, पर पहले संघर्षकालीन नैतिक प्रभामण्डल था जिसमें सब छिप जाता था, अब संघर्ष समाप्त हो रहा था, सत्ता और शासनका युग शुरू हो रहा था और जो प्रभामण्डल संघर्षयुगमें चमक दे रहा था वह शासनका युग प्रारम्भ होते ही बुझ गया । और उसके बुझते ही जितने काँचके टुकड़े उसके रोशनीमें हीरे बनकर चमक रहे थे सब

मलिन और निस्तेज पड़ गये। साहित्यमें भी वे बड़े-बड़े शब्द, वे भव्य चेहरे, वे दिव्यताके लबादे, वे शार्टकट समाधान, वे आरोपित व्यक्तित्व, यथार्थसे पलायन करनेवाली वे आकर्षक पगडण्डियाँ, सब सहसा अपनी कटु वास्तविकताको लेकर सामने खुल गयीं, हम आश्चर्य, दुःख और क्षोभसे तिलमिलाकर देखते रहे कि “अरे ! ये सब तो आजायबघरके शेर थे, आँखें चमक रही थीं पर अन्दर तो भूसा था।”

साहित्यके क्षेत्रमें भी संघर्षका युग समाप्त होते ही इस नैतिक प्रभामण्डलके बुझ जानेका एक बड़ा अजीब उदाहरण दिया जा सकता है। उस ज़मानेकी बात है जब हमारे सभी नेता जेलोंमें बन्द थे, सन् १९४२ के बादके भयानक ब्रिटिश दमनका घाव अभी भरा भी न था कि बंगालके अकालकी हृदयविदारक घटनाओंने सारे राष्ट्रको हिला दिया। उस समय जब चारों ओर बेबसी और घुटनका वातावरण था, हिन्दीकी एक प्रतिष्ठित लेखिकाने अदम्य साहसका परिचय देते हुए ‘वंगदर्शन’ की योजना बनाई, कृतियाँ एकत्रित कीं और ललकारकर लिखा—“जिस कलाकारकी लेखनी इस ज्वालाको छूकर स्वर्ण न बन सकी, उसे राख हो जाना पड़ेगा।” बंगदर्शनने उस क्षोभ, घुटन और पराजयके वातावरणमें एक नयी उमंग जगा दी थी, एक नया साहस जगा दिया था।

दस बारह वर्ष बीत गये, संघर्ष समाप्त हुआ, अपने देशमें राष्ट्रीय सत्ता कायम हुई। देशके सामने एक सवाल आ खड़ा हुआ—पुर्तगाली उपनिवेश गोआमें सत्याग्रह चला और नृशंस पुर्तगालियोंने सत्याग्रहियोंके साथ जो व्यवहार किया उसे सुनकर सारे देशका रक्त खौल उठा। फिर उसी नगरमें उसी प्रतिष्ठित लेखिकाका एक निमन्त्रण लोगोंको मिला—गोआके स्वातन्त्र्य आन्दोलनकी संवेदनमें साहित्यकारोंकी एक सभा होगी। लोग गये। नयी पीढ़ी, पुरानी पीढ़ी, यह शिविर, वह शिविर—सारे मतभेद एक ओर; यह प्रश्न राष्ट्रका है। पर जाने क्यों कुछ था, जिसका अभाव बुरी तरह खटक रहा था। मीटिंगके अन्तमें घोषित हुआ

कि “अभियान” नामक एक संकलन प्रकाशित किया जायेगा जिसमें स्वातन्त्र्य सम्बन्धी कृतियाँ संकलित होगी। उसकी आमदनी गोआ भेजी जायगी।

इस मीटिंगके दूसरे ही दिन अखबारोंमें नेहरूजीका एक वक्तव्य आया—गोआ सत्याग्रहकी तीव्र आलोचना करते हुए। काफ़ी बावेल मचा फिर शान्त हो गया। फिर जैसे गोआकी बात कुछ दब-सी गयी। पर उस संकलन “अभियान” का क्या हुआ यह जाननेकी उत्कण्ठा थी। एक सम्बन्धित सज्जनसे पूछा ! उन्होंने कहा, “उसके आयोजक कुछ हिचक रहे हैं !” “क्यों ?” पूछनेपर मालूम हुआ कि सरकारी नीति गोआ आन्दोलनको बढ़ानेके पक्षमें नहीं है। “इससे क्या हुआ ?” लोगोंने कहा—“हम लेखकोंको सरकारी नीतिसे क्या ? हम तो मूल्योंके लिए लड़ते हैं। स्वातन्त्र्य अपनेमें एक मूल्य है और गोआका आन्दोलन उसे प्रतिष्ठित करता है।”

“यह तो ठीक है !” उत्तर मिला “पर भाई, अगर सरकार गोआ आन्दोलनके पक्षमें नहीं है तो इस किताबको खरीदेगा कौन ? छापकर ढेर लगानेसे हम राष्ट्रका क्या फ़ायदा करेंगे ?”

यह उत्तर स्तब्ध कर देनेवाला था। अकस्मात् वे दिन याद आ गये जब “वंगदर्शन” निकला था, तब सरकारके खरीदनेका तो सवाल ही नहीं उठता था, डर यह था कि कहीं सरकार ज़ब्त न कर ले, छापा मार प्रतियाँ न उठा ले जाय। अकस्मात् वह तेजस्वी वाक्य याद आ गया, स्वर्ण और राख वाला—और आज—

संघर्षके ज़मानेमें जो नैतिक प्रभामण्डल था उसपर आन्तरिक विश्वास उन्होंने खो दिया जिन्होंने उस प्रभामण्डलको लबादा बनाकर ओढ़ लिया था—जो ह्लासोन्मुख, मरणोन्मुख प्रवृत्ति होती है उसपरसे न केवल दूसरोंका विश्वास उठ जाता है, बल्कि ट्रेजडी यह है कि उसका खुद अपने-

पर विश्वास नहीं रहता । और जब उसे लगता है कि उसके नीचेसे ज़मीन खसक गई है तब वह छिपनेके लिए तहखानें और मीनारें खोजती हैं, और फिर उनपर नकली प्रभामण्डल जगमगानेका करुणाजनक प्रयास करने लगती हैं । पर वह काठकी हाँड़ी संघर्षके जमानेमें चढ़ गई सो चढ़ गई, इस सत्ताके युगमें दूजी बार नहीं चढ़ पाती । स्वर्ण नहीं बन पाती राख बन जाती है ।

पर क्यों ? शायद इसीलिए कि संघर्ष कालमें हमें जो भी मिला उसीसे हम काम चलाते गये, काठकी हंडियोंको भी नैतिक प्रभामण्डलसे दीप्त कर हमने चमका दिया—पर वह चमक उनके अन्दरसे विकसित हो, उनके वेवेक और कर्ममें सामञ्जस्य स्थापित हो, नायककी पूजा नहीं, परन्तु उनमें अपना व्यक्तित्व विकसित हो, वे दिव्यताके लबादे उतारकर सामान्य साधारण जनके साथ आ खड़े हों, उसी साधारण जनके साधारण परिवेशमें उसीके धरातलपर प्रखर विवेक, सम्पूर्ण संवेदना और अदम्य ग्राहससे मूल्योंकी खोज करें और जो भी मूल्य उपलब्ध करें उसके प्रति अपने कला-व्यक्तित्वको निस्संकोच समर्पित कर दें, उसके लिए फिर कोई भी खतरा बर्दाश्त करनेको तैयार रहें और साधारण जनके साथ-साथ जो पीड़ा, जो वेदना, जो दुःख वे भोगें उसके सही अर्थ समझें उसे देव्य असीम अलौकिकके गोरख-धन्धेमें न उलझाएँ और मानव मुक्तिके इस दिव्य अभियानमें उनकी मुक्ति और साधारण जनकी मुक्तिमें अभेद स्थापित हो—इस सबका मौका ही नहीं था, आन्तरिक विघटनको ज्योंका-यों रहने दिया गया था किन्तु नेहरूजीके शब्दोंमें—“लाज़मी था कि बादमें इससे अन्तर्द्वन्द्व और संकटकी स्थिति आ जाय ।”

पर यह जो अन्तर्द्वन्द्वकी स्थिति आई वह बहुत गहरी और बहुत त्रासक लगने लगी क्योंकि हमने यह पाया कि साहित्यमें एकाएक अचानक एक नया दृष्टिकोण उभर आया है जो बेहद तीखा है और वह न जाने कहाँसे आकर पुराने युगबोध, पुरानी चेतना, पुराने दृष्टिकोणके सामने

खड़ा हो गया है जो हमने अकस्मात् पाया कि “दोनोंमें पारस्परिक अविश्वास है, तनाव है, क्षोभ है !” (जलते प्रश्न—राष्ट्रवाणी जून १९५६) और यह नया युगबोध बड़ी तेजीसे बुझते हुए प्रभामण्डलों को, दिव्यताके आडम्बरोंको, पुरानी आत्मप्रवचनाओंको, नकाबोंको ध्वस्त करनेपर तुला है और उनके स्थानपर बड़ी दृढ़तासे कवितामें, कथामें, समीक्षामें, चेतना और अनुभूतिमें साधारण परिवेशमें साधारण जनको प्रतिष्ठित करनेमें लग गया है—उससे सम्बन्धित प्रतिमानोंका दूसरा ही स्तर उभर आया है, दूसरे ही परिप्रेक्ष्य आ गये हैं, दूसरी ही शब्दावली आ गयी है, दूसरा ही टैम्पर आ गया है ! यहाँ तक कि लगने लगा कि जैसे—“हम लगभग दो भाषाएँ बोलते हैं । दो दुनियामें रहते हैं ।”

४

यह नया युगबोध अकस्मात् कहाँसे आ गया ? नयी पीढ़ी गर्वमें भरकर कह सकती है कि हम ज्यादा नैतिक हैं, ज्यादा ईमानदार हैं, हमने यह युगबोध खुद विकसित किया है । नयी पीढ़ीको जो लांछित करना चाहेंगे वे कहेंगे—“उह ! यह सब विदेशसे उधार ले लिया गया !” जो बरसों पहले लिखना-पढ़ना बन्द कर चुके हैं, वे कहेंगे—“यह कैशोर्यका औद्धत्य है !” पर ये तथा ऐसे अन्य दृष्टिकोण ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यसे नितान्त अपरिचय ही सूचित करते हैं । अपने सारे राष्ट्रीय संग्रामकी एक और धारा थी जिसका उल्लेख और विश्लेषण अभी तक हमने नहीं किया है—पर वास्तवमें वही भी जिसमें इस नये युगबोधको अंकुरित और पल्लवित किया है । बिना उसके उसको समझे इस नये युगबोध, इस नये टैम्पर, को नहीं समझा जा सकता । वह अन्तर्धारा है—इतिहासके निर्माण और प्रगतिमें साधारण भारतीय जनकी चेतना, साधारण जनका आगे आकर नायकका उल्लंघन और अतिक्रमण कर अपनी नियतिको सीधे अपने हाथमे लेकर उसे स्वयम् आकार देनेका प्रयास । अभी तक हमने राष्ट्रीय संग्राम-

युगके मानसिक धरातलका जो विश्लेषण किया था वह केवल नायकको आधार बिन्दु बनाकर किया। वह आवश्यक था क्योंकि हमारी सारी तत्कालीन साहित्य चेतना उसीसे आक्रान्त थी, (बहुत अंशों तक प्रेमचन्द-जी भी, पर कुछ अंशोंमें नहीं) पर वह इतिहासका केवल एक पक्ष है और उसी पर अपनी दृष्टि केन्द्रित रखनेसे हम नये युग-बोधको नहीं समझ सकते। नया युग-बोध ऐतिहासिक प्रक्रियामें साधारण जनकी देन है।

इसमें सन्देह नहीं कि पहले हमारा सारा राष्ट्रीय आन्दोलन साधारण जनसे विच्छिन्न होकर केवल कुछ बड़े लोगोंके बहस मुबाहसेमें सीमित था, निष्क्रिय, मूल्यहीन। गाँधीजीने उसमें मूल्योंकी प्रतिष्ठा की, उसे सक्रिय बनाया, उसमें साधारण जनको पूर्णतया जाग कर विकसित होनेका अवसर नहीं मिला पर उस सेवा ग्रामके सन्ताने जैसे जादूमें बाँधकर, उन्हें मोहा-विष्ट कर कर्ममें अवश्य प्रवृत्त करा दिया। पर साथ ही आन्तरिक विघटन बना रहा और दुर्भाग्यसे जिस नैतिक प्रभामण्डलसे वह विघटन ढँका रहा—वह प्रभामण्डल अपनी प्रकृतिमें मध्ययुगीन था—आधुनिक नहीं !

पर इस महादेशके साधारण जनने समय-समय पर एक अपूर्व क्षमता का परिचय दिया है। जब कभी इतिहासमें ऐसी चरम संकटकी घड़ी आई है, जब उसकी नियति पर बाजी लगी है, नायकोंने अपनेको निश्शक्त पाया है, और चारों ओर भयानक विघटन और गहन निराशा ही दीख पड़ी है, और साँस रोककर सब देखते रहे हैं कि अब क्या होगा—उस समय न जाने कैसे न जाने कहाँसे अकस्मात् जागकर, हमारा साधारण-जन आगे आया है, तनकर खड़ा हो गया है और उसने चुनौतीका जवाब चुनौतीसे दिया है और ललकार कर कहा है—“नायक चले गये तो जाने दो, मैं हूँ जो इस संकटको अपने सीने पर लूँगा।” अकस्मात् सारा ऊपरका घटाटोप ढह जाता है, और बिलकुल नये चेहरे, नये लोग आते हैं, इतिहासकी धाराएँ मोड़ते हैं और फिर न जाने किस कुहेलिकामें लीन

हो जाते हैं। यह भारतीय इतिहासके चरम संकटके युगोंमें कई बार हुआ है, और हमारे आधुनिक राष्ट्रीय संग्रामके युगमें भी कई ऐसी घटनाएँ हुई हैं, किसान आन्दोलनोंमें, आतंकवादी आंदोलनोंमें—साधारण जनका यह रूप सबसे स्पष्ट और सबसे प्रभावशाली रूपमें उभर कर आया था—सन् ४२ की लघु क्रान्तिमें। वह नायकहीन क्रान्ति थी—जिसका दायित्व तक लेनेको नायक तैयार नहीं होता था—वह तो साधारण जनका अपना विक्षोभ था, अपनी नियतिकी समस्त प्रक्रियाको, सारी बागडोरको आगे बढ़कर उसने अपने हाथमें ले लिया था—और वह लघु क्रान्ति चाहे राजनीतिक स्तरपर कुचल दी गयी थी—पर हमारी चेतना और हमारे भावबोधमें पलती रही, मूल्योंमें जो परिवर्तन आ गया था वह परिपक्व होता रहा और जब आज हम पुराने युगबोध और पुरानी साहित्य दृष्टिके सामने अकस्मात् इस नये युगबोध और नयी साहित्य दृष्टिको तनकर खड़ा पाते हैं तो हमें आश्चर्य होता है। पर पहले भी यह कहा जा चुका है कि “वे लोग जो हिन्दीकी इस नयी चेतनाका सही आकलन नहीं कर पाते, यह भूल जाते हैं कि आज हिन्दीमें वह पीढ़ी उभर कर आई है जिसने सन् ४२में विश्वके महान् साम्राज्यवादी षड़यंत्रके विरुद्ध एक निरस्त्र साधनहीन क्रान्तिका आह्वान किया था !” (सम्पादकीय—आलोचना ८)

वैसे तो यह मोहभंग और नयी चेतनाका जागरण सन् ३८, ३९ के आसपास ही प्रारम्भ हो गया था जिस समयका पण्डित नेहरूका पत्र हमने ऊपर उद्धृत किया था—जब पहली बार संघर्षके बीच हमें कुछ ही दिनोंका विराम मिला था, पहले राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डलके जमानेमें। तभी हमने संघर्ष युगमें स्वीकार किये गये मूल्योंपर पहला प्रश्न-चिह्न लगाया था और तभी हिन्दीमें पहली बार साहित्य-चेतनामे एक अपरिचितसे विक्षोभके चिह्न दीखने लगे थे। यह वही समय था जब नये वामपक्षी दल बने थे, जब भगवतीचरण वर्मनि अपनी तेज तर्रार चीजें लिखी थीं, जब

निरालाकी काव्यधारामें मोड़ आया था, जब पन्तजीने नया काव्य-पथ ग्रहण किया था, जब तार-सप्तकमें संग्रहीत पीढ़ी अपनी रचनाओंमें कहने लगी थी—

“इंगित है कुछ और पूछ लूँ,
इन्द्रचाप की रौली में,
संशय के दो कण लाया हूँ
आज ज्ञान की भोली में।” [प्र० माचवे]

और यह वही समय था जब प्रगतिशील लेखक संघ भी कायम हुआ। पर अभी भी वह संशयका “टेम्पर” था, पूर्ण मोहभंग और वास्तव बोधकी स्थिति नहीं आ सकी थी।

जब ४२ का आन्दोलन आया, और साधारण जन और उसका युगबोध उभरा तब जैसे पहली बार आन्तरिक दरारोंको ढकनेवाला रेशमी पर्दा तार तार हो गया और असलियत झलकने लगी। पहली बार ऐसा लगा कि भारतीय जन अपने पाँवोंपर खड़ा है, किसीने उसे हिप्नोटाइज़ नहीं खड़ा किया है, कोई दूसरा उसे निर्देशन देनेवाला नहीं है—उसे अपने आप रास्ता खोजना है। जो पहली बार अपनी राह खोजता है, अपना दायित्व खुद स्वीकार करता है, वह मानसिक कैशोर्य छोड़कर प्रौढ़ताकी दिशामें अग्रसर होता है। स्वाभाविक है जो युगबोध और साहित्यदृष्टि इससे विकसित हुई है वह पिछले युगबोधसे अधिक प्रौढ़ थी। अगर “कैशोर्य औद्धत्य” कहीं भी मिलता है तो वहाँ जहाँ पिछला युगबोध नये युगबोध पर झपटता है, खीजता है और अशोभन आक्रमण करता है या ऐसे उदार उपदेश दोहराता है जिनकी शब्दावली अब अर्थहीन हो गयी है। यह सब उसके लिए स्वाभाविक है क्योंकि पुराना युगबोध तो चिर किशोर है जिसकी—

“उम्र सारी तो कटी इश्क़े बुताँ में”

और अब स्वाहमस्वाह उसके सामने प्रौढ़ होनेका प्रस्ताव रक्खा जाता है ।

जब नायकहीन क्रान्ति होती है; चाहे चेतनामें, चाहे राजनीतिमें— तब यह अनिवार्यता दृष्टिगोचर होने लगती है कि अब हमारा सारा कर्म अपने चिन्तन और अपने ही विवेकसे उद्भूत होना चाहिए, क्योंकि अपना रास्ता हमें खुद तय करना है, और खुद जो रास्ता, जो मूल्य, जो दिशा हम चुनते हैं उसके लिए फिर सदा हम ही उत्तरदायी रहेंगे चाहे उसके लिए जो भी खतरा उठाना पड़े, और जब उसपर आक्रमण होगा तो हम उसकी रक्षा करेंगे । इस प्रकार विवेक और साहस अन्तर्प्रथित हो जाते हैं । पर जब यह नया युगबोध पुरानेके सामने यह प्रश्न रखता है कि “आखिर आपने अपने विवेकसे क्या दिशा खोजी है, कौन-सा मूल्य उपलब्ध किया है । कौन-सी धुरीपर आप दृढ़ हैं, और उसीपर दृढ़ रहकर क्या आपने खतरे उठाये हैं, या उठानेके लिए तैयार हैं—और अगर यह सब नहीं है तो आप साहित्यको क्या देनेके लिए खड़े हैं !” तब पुराना युगबोध बड़े असमञ्जसमें पड़ जाता है, यह धुरी, विवेक, साधारण जनकी प्रतिष्ठा, साहस—यह सब अकस्मात् कहाँसे आ गया, इसके बारेमें क्यों सवाल पूछे जा रहे हैं, इस सबको ज़रूरत साहित्यमें पड़ती है यह तो हमारे युगमें हमें किसीने नहीं बताया था—जो हमारे पास है भव्यतासे ढँका हुआ विघटन उसकी क्रूर लोग क्यों नहीं करते ? वे जयजयकार वाले लोग कहाँ गये ? ये नये लोग कौन हैं, कहाँसे आ गये ?

“कैशोर औद्धत्य” वाले स्तरपर पुराने युग-बोधकी ओरसे जो इसकी प्रक्रिया होती है वह तो खैर चिरपरिचित है । “ये असंयत लोग हैं, उच्छृङ्खल लोग हैं ।” अगस्त क्रान्तिमें सत्ताने विज्ञापित किया था कि यह क्रान्ति नहीं है, गुण्डोंका हंगामा है, कुछ अभद्र, असामाजिक तत्त्वोंका उपद्रव है । उस सत्ताशाहीमें पले हुए दिमाग आज बिलकुल लुप्त हो गये हों, ऐसा नहीं है । कुछ, जो जनताका नाम लेते थे पर भारतीय

जनकी उस विक्षुब्ध चेतनाको नहीं समझ पा रहे थे उन्होंने कहा कि यह निस्सन्देह फैसिलिस्ट एजेण्टोंका षड्यन्त्र है। वैसी ही प्रतिक्रियाएँ आज अगर दीख पड़ें जब हमारे साहित्यमें मूल्यों और प्रतिमानोंकी क्रान्तिकारी उथल-पुथल हो रही है तो इसमें आश्चर्यकी बात नहीं है !

पर आश्चर्य तब होता है जब हम देखते हैं कि जो वे अपनेको बुद्धि-जीवी कहते हैं, जब उनके मूल्यों, उनके प्रतिमानोंके सामने एक ज्वलन्त प्रश्न प्रस्तुत किया जाता है तब वे अकस्मात् बुद्धिका सारा आधार छोड़ देते हैं और नितान्त अविवेकपूर्ण मीनारोंमें छिपनेकी कोशिश करने लगते हैं जहाँ उनका हित, उनका कैरियर, उनकी भव्यता, उनके पुराने निरर्थक प्रभामण्डल सुरक्षित रह सकें। इसके लिए जिस दयनीय ढंगसे वे पुराने आदर्शोंकी ढाल ग्रहण करते हैं, जैसे विचित्र तर्क देते हैं, जैसी अजीब-अजीब नावोंपर एक साथ पाँव रखनेकी कोशिश करते हैं, जैसे भव्य चेहरे लगाकर बैठते हैं—यह सब करते हैं, पर जो ज्वलन्त यथार्थ है उससे कतराते हैं—यह सब देखकर मुझे बार-बार एक ऐसी विघटित व्यवस्थापर लिखी गयी एक समानधर्मा कविकी कुछ पंक्तियाँ याद आती हैं :—

इतने प्राण, इतने हाथ, इतनी बुद्धि
इतना ज्ञान, संस्कृति और अन्तःशुद्धि
इतना दिव्य, इतना भव्य, इतनी शक्ति
यह सौन्दर्य, वह वैचित्र्य, ईश्वर-भक्ति,
इतना काव्य, इतने शब्द, इतने छन्द—
जितना ढोंग, जितना भोग, है निर्बन्ध
इतना गूढ़, इतना गाढ़, सुन्दर जाल—
केवल एक जलता सत्य देने ढाल

पर नयी दृष्टिको वह रास्ता मरणका रास्ता लगता है जिसमें सत्यसे

मुँह बचाकर भाग जाय और इसीलिए यदि इससे उसका क्षोभ जागता है तो अनुचित नहीं :—

“तेरी रेशमी वह शब्द संस्कृति ग्रंथ
देती क्रोध मुझको, खूब जलाता क्रोध” :

उसका यह क्रोध इसलिए और भी उचित है क्योंकि वह व्यक्तिगत नहीं है, वह तो केवल मध्यकालीन घटाटोपको विच्छिन्नकर आधुनिक युगके साधारण जनको प्रतिष्ठित करनेकी प्रक्रिया है, उसकी नियति और साधारण जनकी नियति परस्पर आवद्ध है और दोनोंका आक्रोश किसी व्यक्ति विशेषपर नहीं है। उनका आक्रोश तो “अविवेक” पर है क्योंकि अन्ततोगत्वा हर हाथीदाँतकी मीनार अविवेककी मीनार ही साबित होती है :—

मेरी ज्वाल, जनकी ज्वाल होकर एक
अपनी उष्णतासे धो चले अविवेक
तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ !

(मुक्तिबोध—तारसप्तक पृ० १६)



नयी मर्यादाका उदय

•

नयी मर्यादाका उदय

आधुनिक संकटकी प्रकृतिका निरूपण करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि यह केवल आर्थिक राजनीतिक या सामाजिक संकट नहीं वरन् मानवजीवनके मौलिक प्रतिमानोंका संकट है। इसलिए साहित्यके प्रसंगमे इसका विश्लेषण अनिवार्य है। किन्तु इस संकटको लेकर निराशा, गतिरोध अनिवार्य विघटन आदिकी जो बातें कही गयी हैं वे स्थितिका एक ही पक्ष प्रस्तुत कर पाती है। इस प्रकारके संकट पहले भी आये हैं और इतिहास इसका साक्षी है। युद्ध, पराजय, दुर्भिक्ष, जलप्लावन और महामारियोंने मानवीय मूल्योंको जितनी तीव्रतासे झकझोरा है, उनका विकास भी उतनी ही तीव्रतासे हुआ है। वास्तविकता यह है कि अक्सर जितने गहन ये संकट रहे हैं उतनी ही निर्मल मर्यादाएँ विकसित हुई हैं। आधुनिक संकट भी इसका अपवाद नहीं है।

स्थिति काफ़ी स्पष्ट हो सकेगी यदि हम मूल्य-मर्यादाओंकी प्रकृति और साहित्यमें उनके विकासकी सामान्य प्रक्रियाके विषयमे थोड़ी जानकारी प्राप्त कर लें। साहित्य चाहे वह किसी भी धारा अथवा निकायका क्यों न हो कुछ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष मर्यादाओं द्वारा नियोजित होता है। इन मर्यादाओंकी सांस्कृतिक स्थिति बड़ी ही सूक्ष्म और जटिल होती है। एक ही संस्कृतिमें कभी-कभी विभिन्न क्षेत्रोंमें कई उपधाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं जिनकी प्रवाह रेखाएँ एक ही व्यापक दिशामें अलग-अलग घुमावोंमें चलती रहती हैं। परिणाम यह होता है कि एक ही मूल्य-मर्यादा कई ऐसी चिन्तनधाराओं और साहित्यनिकायोंमे समान रूपसे प्रतिफलित होती है जो सतही तौरपर न केवल

एक-दूसरेसे भिन्न होते हैं किन्तु उनमें भयानक द्वन्द्व और घात-प्रतिघात चलता रहता है। सैकड़ों वर्ष बाद, कालकी विराट् पृष्ठभूमिमें उनका विवेचन करनेसे यह ज्ञात होता है कि वे जिन बाह्याचारोंपर उलझ रहे थे इतिहासने उनको निरर्थक सिद्ध कर दिया है किन्तु अंशतः वे सभी किसी एक व्यापक मूल्यकी स्थापना कर रहे थे और वह मूल्य सर्वस्वीकृत और विकासमान सिद्ध हुआ। आज, शताब्दियों बाद यह कहना सरल है कि कबीर, तुलसी, सूर और जायसी एक ही परम्पराको अनेक रूपोंमें प्रतिफलित करते हैं। आज तो मध्यकालके अधिकांश प्रगतिशील धर्म-न्दोलन—यूरोपका ईसाई धर्म, मध्यपूर्वका सूफी धर्म, पूर्वी एशियाके वैष्णव और बौद्ध सम्प्रदाय, हम उन सबों द्वारा स्थापित मूल्योंमें अन्तर्निष्ठ एकता पाते हैं। आजका आधुनिकतम इतिहासवेत्ता हरबर्ट बटरफील्ड अपनी नवीनतम कृतिमें इसी परिणामपर पहुँचा है और हमें चेतावनी देता है कि १७वीं शताब्दीमें जेनेवामे केन्द्रित, राजसत्ताओंसे समर्थित, सेनाओंसे सुसज्जित कैल्विन सम्प्रदाय कैथोलिकोंके लिए उतना ही आतंककारी सिद्ध हो रहा था जितना आज मास्कोमें केन्द्रित स्तालिनवाद। किन्तु कौन जानता है कि २०० या ३०० वर्ष बाद आजकी प्रबल प्रतिपक्षी शक्तियोंका संघर्ष उतना ही निरर्थक सिद्ध हो जितना मध्यकालका कैल्विन और कैथोलिक द्वन्द्व^१।

इससे राजनीतिक निष्कर्ष क्या निकलते हैं यह हमारा विषय नहीं। हमारा मूल प्रतिपाद्य साहित्य है जिसके विषयमें यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसमें एक निरन्तर सहजवृत्ति होती है जिसके कारण वह मूल्यों द्वारा नियोजित मर्यादाओंको स्वीकार करता है और उसके साम्प्रदायिक स्वार्थों और निरर्थक कुतर्कों द्वारा स्थापित संकीर्ण अनुशासनोंको

१. क्रिश्चियानिटी, डिप्लोमेसी ऐण्ड वार—प्रो० हरबर्ट बटरफील्ड।

अरसिक, असंस्कृत अन्यानुयायियोंके लिए छोड़ देता है। इस प्रकार साहित्यको प्रशासित करनेवाली मर्यादाओंके द्विविध रूप होते हैं—सम्प्रदायगत और मूल्यगत। सम्प्रदायगत मर्यादा पतनोन्मुख और संकीर्ण होती है—मूल्यगत मर्यादा प्रगतिशील और विकासोन्मुख^१। जीवन्त साहित्यके लिए प्रथम अग्राह्य है, द्वितीय अनिवार्य।

पिछले सौ वर्षों के साहित्यका पर्यवेक्षण करनेसे यह स्पष्ट होता है कि गहन संकटके बावजूद व्यक्ति और समाज सम्बन्धी वे प्रमुख मानववादी मूल्य जो समाजवादकी मार्क्सिय तथा अन्य पद्धतियों द्वारा स्वीकृत किये गये थे, साहित्यमे अपनी सम्प्रदायगत सीमाओंसे मुक्त रूपमें न केवल ग्रहण किये गये, वरन् सार्वभौम साहित्य-मानसमे उनका निरन्तर विकास भी होता रहा। और भी सूक्ष्म निरीक्षणसे यह भी आभास मिलता है कि समाजवाद, अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषण, नव-कैथोलिक चिन्तन, अर-विन्द-दर्शन और सर्वोदय जैसे कभी-कभी सहयोगी और कभी-कभी घोर विरोधी धाराओंसे प्रभावित जो उच्च कोटिका साहित्य लिखा गया उसमे साम्प्रदायिक संकीर्णताओंका सचेष्ट व अज्ञात-रूपेण बहिष्कार मिलता है। यह इसीसे सिद्ध है कि सम्प्रदायगत ईसाइयत और सम्प्रदायगत कम्यूनिज्ममें बाहरी विरोध होते हुए भी मार्क्सिय आन्दोलनोंके अर्थ समझानेके लिए कलाकारोंने जीससकी बलिदान-कथाके ही प्रतीकोंको चुना। इसका कारण यह था कि वे उपमेय और उपमानमें साधर्म्यके तत्त्वको स्वीकार करते थे। उनकी दृष्टिमें मार्क्सिय आन्दोलन उन्हीं स्थायी मूल्योंकी पुनःप्रतिष्ठाका प्रयत्न है जिनकी प्रतिष्ठा जीससने की थी। क्रान्तिके अमर गायक, महत्तम आधुनिक रूसी कवि ब्लाकने क्रान्तिकी व्याख्या

१. मूल्यगत मर्यादाके लिए कोई उपयुक्त शब्द न पाकर मुझे मूल्य-मर्यादा शब्द गढ़ना पड़ा है।

करते हुए कहा था “जब कभी यह आदर्श—जो अनादिकालसे जनताकी आत्मामे सोया हुआ है, करवट बदलता है, अंगड़ाई लेकर जाग उठता है और ऐसी अदम्य धाराके रूपमें शक्ति संचित कर बढ़ चलता है जिसे कोई भी तटरेखा या बाँध रोक नहीं पाते, तभी क्रान्ति होती है^१।” अपनी अमर कविता ट्वेल्वमे उसने लाल सेनाके १२ क्रान्तिकारी सैनिकोंको बारह शिष्योंके रूपमे परिकल्पित कर अन्तिम पंक्तिमें कहा है—
 “प्रभु जीसस आपको राह दिखा रहे हैं। लगभग २० वर्ष बाद जब स्पेनमे फासिस्ट शक्तियोंके विरुद्ध समाजवादी और प्रजातन्त्रवादी शक्तियोंने संघर्ष किया तब उसके एक जत्थेकी अमरकथा लिखते हुए पुनः अर्न्स्ट हेमिंग्वेने एक ईसाई भावनाको आधार-सूत्र बनाया। उस भावनाके अनुसार प्रभुका अर्थ मानवजातिकी प्रगतिमे निहित है^२।

यही नहीं वरन् इनकी साम्प्रदायिक परम्पराका परिहार करनेके प्रति वे सचेत भी थे यह जान स्टीनबेककी प्रख्यात कहानी “द रेड” में मिलता है। डिक और रूट नामक दो श्रमिक कार्यकर्त्ता जब श्रमसंगठनके प्रयासमें स्वतः श्रमजीवियोंके ही पत्थरोसे घायल होकर पड़े हैं तो रूट डिकको बाइबिलके उस कथनकी याद दिलाता है जिसमें जीससने कहा है कि उन्हें क्षमा करो क्योंकि वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं। डिक, जो उत्साही साम्यवादी है तुरन्त उद्धरण देता है—“धार्मिक पचड़ा बन्द करो। जानते नहीं धर्म जनताके लिए अफ़ीम है।” रूट तुरन्त अत्यन्त सहज भावसे उत्तर देता है—“धर्म ? इसमे धर्मकी बात क्या है ? मुझे ऐसा ही लगा कि यह मैं कहूँ। लगा कि मुझे जो अनुभव हो रहा है उसे ऐसे ही कह सकता हूँ बस।” इस अत्यन्त मर्मस्पर्शी क्षणका

१. ब्लाक-स्प्रिट ग्राफ म्यूजिक—

२. “...I am involute in mankinde, so do not send to ask for whom the bell tolls, it tolls for thee.”

चित्रण करते हुए लेखकने दोनों पात्रोंकी संस्कारगत सीमाओंके बावजूद दोनोंके लक्ष्य और दोनोंकी पीड़ाकी मूल्यगत एकताका चतुर संकेत किया है। साहित्य सम्प्रदायगत सीमाओंसे उबरकर इसी व्यापक मूल्यगत भूमिपर अपना विकास करता रहा है और इसी भूमिपर कट्टर विरोधी दीख पड़नेवाले निकाय भी इतिहासकी सूक्ष्म दृष्टिमें मिलते हुए दीख पड़ते हैं। साहित्यमे इस नई मूल्य मर्यादाके विकासको समझनेके लिए हमारी दृष्टि जितनी सूक्ष्म और व्यापक होनी चाहिए, अवैज्ञानिक पूर्वग्रहोंसे उतनी ही मुक्त भी !

साहित्यकी मर्यादा—प्रगति; प्रगतिकी मर्यादा ?

१८ वीं और उन्नीसवीं शताब्दीकी चिन्तनाके फलस्वरूप जिस मर्यादाने साहित्यमें अपनेको प्रमुखतम रूपमें विकसित किया, वह थी सामाजिक प्रगतिकी मर्यादा। प्रगति-सिद्धान्तकी व्याख्याओंके अन्तर्गत मानवीय इतिहासको निरर्थक निष्प्रयोजन घटनाओंकी क्रमागत कड़ी न मानकर उसको प्रयोजनसे मुक्त गति माना जाने लगा, एक ऐसी प्रगति जो किसी निश्चित उद्देश्यकी ओर उन्मुख है। इन सिद्धान्तोंमें प्रगतिकी प्रणाली और उसके प्रयोजन लेकर काफ़ी मतभेद था। कुछ वस्तुवादी थे, कुछ भाववादी। हीगेलने सर्वप्रथम प्रगतिकी प्रणालीमें विरोधी तत्त्वोंको समाहरित कर लेनेवाली द्वन्द्वात्मक पद्धतिका आरोपण किया था। मार्क्सने हीगेलके समस्त तर्कोंको उलटकर भाववादी द्वन्द्वात्मक पद्धतिको भौतिकवादी वर्गसंघर्षके रूपमें बदल दिया और हीगेलके किसी अदृश्य मानवोपरि दिव्यभावका निषेध कर वर्गहीन समाजको ही ऐतिहासिक प्रगतिकी चरम परिणतिके रूपमें स्वीकार किया। यद्यपि मार्क्सके कुछ विरोधी इसी आधारपर यह कहते हैं कि उसने भौतिकवादकी अतिरेकताको आरोपित मानवीय मूल्योंको कुण्ठित कर दिया, किन्तु भाववादियोंकी

अपेक्षाका यह सिद्धान्त मानववादी मूल्योंकी प्रतिष्ठामें उस समय अधिक सहायक सिद्ध हुआ क्योंकि वह तत्कालीन संकटकी अधिक दुखती हुई रगको पकड़नेकी सामर्थ्य रखता था । इसका कारण यह था कि मार्क्सका भौतिकवाद निष्क्रिय जड़वाद नहीं था, वह वस्तुको धारणा द्वारा ग्रहण करनेकी अपेक्षा उसके साक्षात्कारको क्रिया (Practice) के माध्यमके बिना अपूर्ण मानता था और वह क्रिया भी अपनेमें निरपेक्ष न होकर सामाजिक सम्बन्धोंके पुनर्गठनमें आत्म-साफल्य पाती थी^१ । मार्क्स भौतिकवादी प्रगति-सिद्धान्त कितना घुमा-फिराकर जैसे मानववादी मूल्योंकी स्थापना करता है जो घोर आत्मवादी सम्प्रदायों द्वारा सर्वमान्य हैं । यह स्वतः अपनेमें अध्ययनका एक महत्त्वपूर्ण विषय है । फिलहाल इतना संकेत करना यथेष्ट है कि मार्क्स द्वारा स्थापित प्रगतिकी मर्यादामें कोई ऐसा मौलिक अभाव नहीं था जो उससे प्रेरित साहित्यको मानववादी उत्कृष्ट साहित्य बननेसे रोक देता । मैक्सिम गोर्कीसे लेकर आन्द्रे मैलरो तकका कम्यूनिस्ट साहित्य, जहाँ तक वह सम्प्रदायगत सीमाओंका तिरस्कार करता है, किसी भी धाराके श्रेष्ठतम साहित्यके समक्ष रक्खा जा सकता है क्योंकि उनमें सम्प्रदाय भेद प्रमुख न रहकर मूल्यगत-अभेद प्रमुख रूपसे उभरता है^२ ।

१. लुडविक फायरबख्का परिशिष्ट । माओत्से तुङ्ग-ग्रॉन प्रैक्टिस ।

२. अर्द्धराजनीतिक पत्रकार गोर्कीसे कलाकार गोर्कीकी दृष्टि कहीं अधिक व्यापक थी और इसमें अध्यात्मवादी कवि ब्लाक तककी मूल्यगत भिन्नता मिलती थी इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं । अखिल रूसी धार्मिक दार्शनिक संसद्की प्रथम बैठक (१९०८) में हरमन बैरिनबने गोर्कीके विरुद्ध जो आरोप लगाये उनका उत्तर देते हुए ब्लाकने उसी समय “जनता और बुद्धिजीवी” शीर्षक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा था जिसमें रूसी धार्मिक बुद्धिजीवियों तथा लुनाकास्की, गोर्की तथा अन्य समाज-

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया साहित्यमें प्रगतिकी मूल्य-मर्यादाको सम्प्रदायगत अनुशासनोसे मुक्त रखनेकी अधिकाधिक आवश्यकता अनुभव की गयी। साहित्यकी सहज, स्वाभाविकता तो इसके मूलमें थी ही किन्तु इसके कुछ अन्य कारण भी थे। मार्क्सने साहित्यको वर्ग-संघर्षका अस्त्र माना था और उभरते हुए वर्गकी आकांक्षाओं और दृष्टियोंको प्रतिफलित करनेवाले तथा वर्गहीन समाजकी विकास प्रक्रियामें सहायता देनेवाले साहित्य ही उसने प्रगतिशील (प्रगतिकी मर्यादासे मुक्त) साहित्य माना था। किन्तु प्रश्न यह था कि इस उभरते हुए वर्गका प्रतिनिधि कौन है, जो इन मर्यादाओंको निर्धारित करेगा ? मार्क्सका उत्तर था :—“कम्युनिस्ट पार्टी”। मार्क्सके समयमें यह उत्तर यदि साहित्यिक नहीं तो कम-से-कम राजनीति स्तरपर पूर्ण संगत उत्तर था। किन्तु आज पूछा जा सकता है—“कम्युनिस्ट पार्टी तो कौन-सी कम्युनिस्ट पार्टी ? स्टालिनकी, या ट्राट्स्कीकी, या टीटोकी ? फिर कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा स्वीकृत कौन-सी ब्याख्या ? दो दिन पहले वाली ? या दो दिन बाद वाली ?” कहा जा सकता है जो नीति मार्सीय हो ? पर आज तो हर नई नीति मार्क्सके उद्धरणोंके साथ अपनाई जाती है और कुछ दिनों बाद मार्क्सके उद्धरणों के साथ दफ़ना दी जाती है। हर वामपक्षी दल दूसरे वामपक्षी दलपर मार्क्सके प्रति विश्वासघातका दोषारोपण करता फिरता है^१। इसके बीच सही कौन है इसका निर्णय कौन करेगा ? हमारा विवेक ? यदि हमारा

वादियोंके दृष्टिकोणमें मूल्यगत एकताकी ओर बड़ी स्पष्टतासे संकेत किया था। यह ध्यान देनेकी बात है कि उस समय बोलशेविकोंके हाथमें सत्ता नहीं थी अतः वे ब्लाकके स्वतन्त्र विचार नहीं थे ऐसा कहनेका कोई कारण नहीं है।

१. एक दूसरे प्रसंगमें “सार्त्र” ने भी यही प्रश्न उठाया है। द्रष्टव्य “एक्जिस्टेन्सियलिज्म एण्ड ह्यूमेनिज्म” का परिशिष्ट।

विवेक ही अन्ततोगत्वा प्रमुख निर्णय करता है तो सम्प्रदायके अनुशासनकी क्या सार्थकता ? क्यों न हमारा विवेक ही प्रगतिकी मर्यादा निर्धारित करे ? क्योंकि साहित्यकारका सहज विवेक निस्सन्देह उसे सम्प्रदायगत सकीर्णताओंका अतिक्रमणकर व्यापक मानववादी मर्यादाभूमिपर लाकर खड़ा कर देता है जहाँ वह अन्य सभी सम्प्रदायोंके मानववादी कलाकारोंसे मिलकर किसी तात्कालिक राजनीतिक स्वार्थपर सयुक्त मोर्चा न बनाकर एक व्यापक और स्थायी जनवादी मूल्यकी मर्यादा-भूमिपर अपने नये सम्बन्ध विकसित करता है, अपने उपलब्ध सत्यको दूसरों द्वारा उपलब्ध सत्यसे समन्वितकर उसे पूर्ण और व्यापक बनाता है । तो क्या साहित्य पक्षधर नहीं होता ? यह प्रश्न उठता है । हाँ होता है, किन्तु वह एक एकांगिताके विरुद्ध दूसरी एकांगिताका पक्ष ग्रहण नहीं करता, वह एक अन्यायके विरुद्ध दूसरे अन्यायका पक्ष ग्रहण नहीं करता—वह एकांगिताके विरुद्ध व्यापकताका, अन्यायके विरुद्ध न्यायका, सीमाके विरुद्ध मूल्य-मर्यादाका पक्ष ग्रहण करता है । सांस्कृतिक स्तरपर पक्षधरता क्यों दलगत न होकर मूल्यगत ही होती है इसका विवेचन पहले ही किया जा चुका है ।^१ सम्प्रदायगत मर्यादाओंके आतंकसे प्रगति-भावनाकी मुक्ति साहित्य-चेतनाके विकासमें एक ऐसा मोड़ है जो अत्यन्त आशामयी और प्रकाश-पूर्ण दिशाओंमें ले जानेकी सामर्थ्य रखता है ।

प्रगति भावनामें एक अन्य मान्यताका विकास भी बड़ा महत्वपूर्ण है, जो एक प्रकारसे पिछली बातका ही तर्क-संगत अवश्यम्भावी परिणाम है । मार्क्सने प्रगति-भावनाके निर्णयात्मक पक्षको बाह्य अर्थ-व्यवस्था-में स्थित माना था । सम्प्रदाय या पार्टी उसी अनिवार्यताका प्रति-वहन करती है ।

१८ वीं शताब्दीमें प्रगतिके सम्बन्धमें नियतिकी-सी अनिवार्यताकी धारणा अकेले मार्क्सकी नहीं रही है। वस्तुवादी और भाववादी दोनों प्रकारके चिन्तकोंने इस धारणाको प्रश्रय दिया है। किन्तु इस प्रकारका नियतिवादी दर्शन मानवकी सहज स्वतन्त्र वास्तविक अनुप्रेरणाको कई ढंगसे कुण्ठित कर देता है। इस अभावसे उत्पन्न प्राणहीनता अक्सर मार्क्सीय पद्धतिमें भी अनुभव की गई है। इसका मुख्य कारण यह है कि मानव-स्वातन्त्र्यकी स्थितिको मार्क्सने भी ऐतिहासिक प्रगतिका लक्ष्य माना था, यद्यपि वह मानता था कि उसका पूर्ण साक्षात्कार वर्गहीन समाजमें ही हो सकता है। अपने नियतिवाद और मानव-स्वातन्त्र्यके प्रति अपनी आस्थामें मार्क्स एक संगति स्थापित करना चाहता था और जब एक ही तर्क-प्रणाली द्वारा वह सम्भव न हो सका तो उसने कभी इसपर और कभी उसपर बल दिया। बादमें मार्क्सके अनुयायियोंके लिए यह अन्तर्विरोध और भी जटिल सिद्ध हुआ और इतिहासमें कहाँ तक बाह्य स्थिति मनुष्यकी आन्तरिक मूल्यगत चेतनाको प्रभावित करती है, कहाँ तक मूल्यपरक चेतना बाह्य स्थितियोंको प्रभावित करती है, इस प्रश्नपर मार्क्सवादी शिविरोंमें भयानक बौद्धिक संग्राम हुए हैं।

इस अन्तर्विरोधके अतिरिक्त और भी मार्क्सीय चिन्तनके कई पक्ष ऐसे हैं जो पिछले १०० वर्षकी वैज्ञानिक, आर्थिक और सामाजिक प्रगतिकी कसौटीपर खरे नहीं उतरते। पदार्थ विज्ञानके सापेक्षतावाद, क्वान्टम सिद्धान्त, ऐलेक्ट्रान सिद्धान्तने भौतिकवादकी उन मान्यताओंपर तीव्र आघात पहुँचाया है जिसपर मार्क्सका यान्त्रिक नियतिवादी दर्शन आधारित था। उसके अर्थशास्त्रको स्वतः क्रोचेने अस्वीकृत कर दिया जो किसी समय मार्क्सवादियोंके इतना निकट था कि कम्युनिस्ट पत्र उसे कामरेड क्रोचे कहते थे, इतिहास-दर्शनमें भी स्पेंगलर आदिने रेखाकार प्रगतिवादके बजाय सस्कृतियोंके वृत्ताकार उत्थान और पतनकी पद्धतियाँ प्रचारित कीं। इनमेंसे कौन सत्य है कौन मिथ्या यह निर्णय करना हमारा

उद्देश्य नहीं, यहाँपर केवल यह संकेत किया जा रहा है कि प्रगति-सिद्धान्त-की मार्क्सिय पद्धतिके तर्कोंको वैज्ञानिक चिन्तनके नवीनतम विकाससे बहुत समर्थन नहीं मिलता रहा है। चिन्तन-धाराओंकी गतिके अतिरिक्त पिछले १०० वर्षोंमें वास्तविक राजनीतिक इतिहासकी गतिने कई बार मार्क्सिय पद्धतिकी अनिवार्यताका अतिक्रमण किया, (लेनिन द्वारा आयोजित रूसी क्रान्ति, और माओ द्वारा आयोजित चीनी क्रान्ति ही स्वतः इसके सबसे बड़े प्रमाण हैं। अमेरिकन और अंग्रेजी प्रोलेटेरियट द्वारा कम्युनिज़मकी अस्वीकृति भी ऐसी ही घटना है। गाँधी द्वारा प्रेरित भारत-की अहिंसात्मक क्रान्ति तो उन समस्त मूल्योंके प्रति सबसे बड़ा प्रश्न-चिह्न है, यह स्वतः कामरेड रोमारोलाने घोषित किया था।) जहाँ मार्क्सवादी अनिवार्यताको जीवनकी कसौटीपर कसा गया उस सोवियत क्षेत्रमें आर्थिक विकासके बावजूद सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रगतिका पूर्ण अभाव रहा और क्रान्तिकी भूमिकाके रूपमें जिस रूसने तुर्गनेव, डास्टाव्स्की, टालस्टाय, चेखव, गोर्की और ब्लाक उत्पन्न किये थे उसका सांस्कृतिक व्यक्तित्व दिनों दिन कुण्ठित, बीना और छिछला होता गया। चारों ओर यह अनुभव किया गया कि प्रगतिकी कसौटी ही बदली जानी चाहिए। प्रगति-की कसौटी मनुष्य है—मनुष्य अपनी आन्तरिक मर्यादाओं सहित। और बाह्य परिस्थितियाँ उसका आन्तरिक विकास करें ही यह आवश्यक नहीं। आन्तरिक विकासके लिए आन्तरिक प्रेरणा होनी चाहिए। इस प्रकार प्रगतिकी मर्यादाको मानवके अन्तरमें आरोपित किया गया। मनुष्य तभी प्रगति करता है जब उसके अन्तरमें प्रगतिकी नैतिक प्रेरणा हो। कोई सर्वदा बाह्य परिस्थिति मानवीय प्रगतिका दायित्व नहीं ले सकती। इस प्रकार प्रगतिकी मर्यादाको न केवल सम्प्रदायगत सीमासे मुक्ति मिली वरन् बाह्यसे उसका संचरण अन्तरकी ओर हुआ।

यह संक्रमण मार्क्सिय चिन्तनामे प्रतिविम्बित न हुआ हो ऐसी बात नहीं है। वैसे आजका मार्क्सिय लेखक अपेक्षाकृत अधिक रूढ़िवादी होता

है और नये विकासको यथासम्भव स्वीकार नहीं करना चाहता। फिर भी साहित्यिक होनेके नाते मूल्यगत मर्यादाके प्रति उसमें एक अप्रत्यक्ष निष्ठा होती ही है। परिणामस्वरूप ऐसे बहुतसे मार्क्सिय लेखक हैं जिनमें यह द्वन्द्व स्पष्ट उभरा है। वे साम्प्रदायिक सीमाको अस्वीकार नहीं कर पाते और फिर भी मनुष्यके आन्तरिक मूल्योंपर पुनः ध्यान आकर्षित करनेकी अनिवार्यतासे प्रेरित होकर ईमानदारी, अच्छाई, बुराई आदिकी भावनाओंको किसी तरह मार्क्सिय चिन्तनके ढाँचेमें ही विकसित करना चाहते हैं यद्यपि अभी तक मार्क्सिय चिन्तनामें इनको पतनोन्मुखी आत्मनिष्ठ निरर्थक बूर्जुआ शब्दावली कहा जाता रहा है। यही नहीं वरन् अधिकांश प्रजातन्त्रवादी देशोंका शान्ति-समस्यापर लिखा गया कम्युनिस्ट साहित्यका एक बार इन्हीं आन्तरिक मूल्योंको अभिहित करनेवाली शब्दावलीका व्यवहार करने लग गया है। चीनी कम्युनिस्ट पार्टीके प्रख्यात चिन्तक ल्यू शाओ चि की कृतिका शीर्षक “How to be a good Communist” स्वतः चौंका देनेवाला है। यद्यपि उसने मनुष्यके वर्गाश्रित स्वभावकी व्याख्या की है किन्तु चीनी दर्शनसे परिचित कोई भी व्यक्ति पहचान सकता है कि इस संकटके समाधानके लिए ल्यू शाओ चि बार-बार मार्क्सको खींच-खींचकर कम्प्यूशसके द्वारपर ले गया है। यह सब अभी अंकुर रूपमें ही है किन्तु इस बातकी पूर्व सूचना है कि मार्क्सवादको अन्ततः संकीर्ण साम्प्रदायिक रूढ़िसे मुक्त, व्यापक मूल्य मर्यादासे युक्त होना ही है, यद्यपि अभी वह सम्प्रदायगत रूढ़िवादितासे जोर आजमाइश कर रहा है।

आधुनिकतम वैज्ञानिक चिन्तनका झुकाव इस मतकी ओर अधिक है कि प्रगतिकी मर्यादा मनुष्यकी आन्तरिक मर्यादा है। गिन्सवर्गने बड़ी कुशलतासे पिछली तीन शताब्दियोंकी वास्तविक प्रगति और उनकी व्याख्या करनेवाले प्रगति-सिद्धान्तोंका पर्यवेक्षण कर यह निर्धारित

किया है कि विवेकपर आधारित न्यायके प्रति मानववादी आग्रह ही प्रगति की मूल प्रेरणा है और एक विवेकवादी सामाजिक नैतिकता ही उसकी मूल्य-मर्यादा हो सकती है। वह यह भी मानता है कि इस विवेकवादी नैतिकतामें सभीके लिए कोई यान्त्रिक अधिनियम या सभीके लिए एक-सी पोशाक नहीं होती।^१ इसमें मानवताके विभिन्न आयामोंके पूर्णतम उदय (सर्वोदय) की सुविधा है। प्रगतिकी ओर मनुष्यको उन्मुख करनेवाली इस वृत्तिको विचारोंने विभिन्न विभिन्न नाम दिये हैं। गिन्सबर्ग इसे विवेकवादी नैतिकता कहता है, अधिकांश ईसाई चिन्तक (चाहे कैथोलिक हों, प्रोटेस्टेण्ट हों या अस्तित्ववादी हों) इसको ईसाई संज्ञा देते हैं; गाँधी-विनोबा इसे सर्वोदय वृत्ति कहते हैं, अरविन्द इसको मनुष्यकी भविष्यतमुखी-चेतना कहते हैं।

यहाँपर पुनः एक सूक्ष्म खतरेको समझ लेना आवश्यक है। यह विवेकवादी नैतिकता इस बातपर आग्रह करती है कि हम भविष्यमें जिन मानवीय मूल्योंके विकासका स्वप्न देखते हैं, उन्हें हम इसी क्षण अपने आचरण और जीवन पद्धतिमें प्रतिष्ठित करें। यदि हम ऐसा नहीं करते और भविष्यके किसी अदृश्य वर्गहीन समाजकी स्थापनाके नामपर इस मानववादी मूल्योंका तिरस्कार करते हैं तो हम प्रगतिकी आस्थाको आन्तरिक रूपसे पराजित कर एक प्रकारके नये भाग्यवादको प्रश्रय देने लगते हैं। इस प्रकार पुरानी परम्परा पूजक भाग्यवादी “होइहै सोइ जो राम रचि राखा, को करि तर्क बढ़ावइ साखा” कह कर निष्क्रिय होकर बैठ रहता है, उसी प्रकार अपने स्वतन्त्र चिन्तन और विवेकको तिलाञ्जलि देकर बाह्यारोपित प्रगति भावनाको एक क्रूर मालिककी भाँति स्वीकार कर हम सारी निरंकुशताको चुपचाप सहन कर भविष्यके सहारे बैठ रहनेके आदी हो जाते हैं। हम समझते हैं कि इतिहास एक बँधे हुए द्वन्द्वात्मक साँचेमें

ढल रहा है अतः यदि उसके दौरानमें झूठ बोले जाते हैं, राजनीतिक बन्दियोंके कैम्प खोले जाते हैं, नीतियाँ बदलते ही दस-बीस व्यक्ति बिना किसी खुले मुकदमेके फाँसीपर लटका दिये जाते हैं, तो यह सब जायज है क्योंकि इतिहास तो अपने ढंगसे ही चलेगा। आज यह सब उचित है, क्योंकि भविष्यमें यह सब उचित नहीं रहेगा। वर्गहीन समाजमें सत्य, प्रेम, मानवता, वैयक्तिक स्वतन्त्रता सभी विकसित होंगे अतः आज उसके लिए सत्यकी हत्या होती है, वैयक्तिक स्वतन्त्रताका अपहरण होता है तो कोई हानि नहीं। किन्तु यह भाग्यवादी रूग्ण दृष्टिकोण है, प्रगतिशील स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं। प्रथम प्रकारका भाग्यवाद परम्पराके नामपर नैतिक निष्क्रियताको उचित मानता है, यह नये प्रकारका भाग्यवाद स्वतः प्रगतिके नाम पर नैतिक निष्क्रियता और अगतिके औचित्यको स्थापित करनेका प्रयास करता है।

बर्डेव इसकी एक नई व्याख्या देता है। वह इसको पलायन प्रवृत्ति मानता है जो वर्तमानकी कायरता और निष्क्रियताकी क्षतिपूर्ति भविष्यके कल्पित स्वप्नमें करती है। मनुष्य जैसे वर्तमानकी विवशता, दासता, पीड़ा और कुण्ठाको भुलानेके लिए कभी-कभी अतीतकी मधुर कल्पनाओंमें आश्रय ग्रहण करता है, वर्तमानको बदलनेका प्रयास नहीं करता, उसी तरह आजका वह प्रगतिवादी जो सत्यके नामपर असत्य, प्रेमके नामपर आतंक, शान्तिके नामपर युद्ध, स्वतन्त्रताके नामपर दासता सहन कर लेता है वह वास्तवमें प्रगतिवादी नहीं है—पलायनवादी है। भविष्य, वर्तमानसे सर्वथा विच्छिन्न वस्तु नहीं है; मूल्योंका वह रूप जो हम आज बना रहे हैं, वही कल बनकर अवतरित होगा। समयको टुकड़ोंमें तोड़ देनेकी हमारी आदत हमें इस बातका अधिकार नहीं देती कि अन्तिम टुकड़े (भविष्य) को मध्यके टुकड़े (वर्तमान) से अधिक वास्तविक समझें। प्रगतिकी मर्यादा इसी क्षणकी मर्यादा है जिसका औचित्य किसी

परिकल्पित अनुमानित भविष्यमें नहीं वरन् इसी क्षणकी ठोस और यथार्थ परिस्थितियोंमें किये गये हमारे विवेकपूर्ण आचरणमें है ।

प्रगतिकी मर्यादा—आचरण;

आचरणकी मर्यादा ?

मूल्य-मर्यादाकी ही भाँति आचरण भी एक विशेषार्थक शब्द है और जब हम कहते हैं कि कोई बाह्यारोपित व्यवस्था नहीं वरन् विकासकी दिशा में हमारा आचरण ही वास्तविक ऐतिहासिक प्रगति है, तो आचरणकी प्रकृतिको समझ लेना आवश्यक है ।

आचरणके लिए प्राथमिक शर्त है—स्वतन्त्र विवेकपूर्ण मानवीय संकल्प । पानीका बहना, पहियेका घूमना और घड़ीका बन्द हो जाना उनका आचरण नहीं है । किन्तु मनुष्यका कड़वी बात बोलना, आक्रमण करना या सहायता देना—उसका आचरण है, क्योंकि पहियेका घूमना उसके विवेकपूर्ण निर्णय और स्वतन्त्र संकल्पका परिणाम नहीं है । मनुष्यके व्यवहार उसके विवेकपूर्ण संकल्पके परिणाम है अतः वे आचरण हैं जिनके लिए वह उत्तरदायी है । आचरणको इस प्रकृतिको स्वतन्त्र और सांस्कृतिक दृष्टिसे उन्नत देश इस सीमा तक मानते हैं कि वह मनुष्यकी उन क्रियाओंको भी उसका दायित्वपूर्ण आचरण नहीं मानते हैं जो कि वह बेहोशीमें, नींदमें, पागलपनमें या विवेकरहित चरम भावावेशमें करता है ।

चूँकि प्रगतिका विधायक है मनुष्यका स्वतन्त्र विवेकपूर्ण आचरण अतः इतिहासमें जिन प्रतिक्रियावादी राजसत्ताओं, धार्मिक सम्प्रदायों या अर्थ-व्यवस्थाओंने मनुष्यका विकास और प्रगति रौनी चाही है उसका यही प्रयास रहा है कि किसी तरह मनुष्यके स्वतन्त्र विवेकको भौतिक अभाव, कुरुचि या अनुशासन द्वारा पराभूत कर उसकी क्रियाको विवेकसे रहित पागलपन, मूर्छा या भावावेशकी क्रिया मात्र बना दिया जाय । ऐसी स्थितिमें मनुष्य पशुधर्मी या वस्तुधर्मी हो जाता है और उसपर दूकान-

दारकी तरह या चरवाहेकी तरह अधिकार रक्खा जा सका बेचा जा सकता है या हाँका जा सकता है। यदि वह सत्ता पँदी है तो आर्थिक विपन्नता द्वारा सुरक्षासे वंचित कर उसके विवेक, पराभूत कर देती है, उसके संकल्पात्मक साहसको नष्ट कर देती है; यदि वह फासिस्ट है तो अतीतके प्रति गलत गर्व जगाकर, कल्पित आजातिका स्वाभिमान और यहूदियोंके प्रति अविवेकपूर्ण घृणा जगाकर उनको मन्त्रमुग्ध कर लेती है। कम्युनिस्ट है तो उसके विचारों और ज्ञानके साधनोंपर नियन्त्रण कर, प्रचारके राष्ट्रव्यापी साधनों द्वारा उसको अर्द्ध-ज्ञान और अज्ञानके स्तरपर हिप्नोटाइज कर उसके आवरणके विवेकको हर लेती है और विकासके मार्गको अवरुद्ध कर देती है। आचरण और विवेक के बीचकी यह खाई शायद मानव-संस्कृतिका सबसे बड़ा संकट है जिसकी पीड़ाकी चरम अनुभूति टी० एस० ईलियटने व्यक्त की थी जब उसने कहा था—

Between the idea
And the reality
Between the motion
And the act
Falls the shadow^१

इसी संकटको कार्ल यास्पर्स जैसा गहन चिन्तक भी व्यक्त करते हुए पीड़ासे व्यथित होकर दर्शनकी नहीं काव्यकी भाषा बोलने लगता है। वह कहता है—“विवेक वास्तवमें अन्तर्निहित एकताका संकल्प है। लेकिन इन व्यवस्थाओं और सिद्धान्तों द्वारा बार-बार किसकी हत्या हो रही है? कौन है जो इन गलत पगडण्डियोंपर बार-बार हमसे छुटा जा रहा है? वह है मनुष्यके अस्तित्वके विकासकी सम्भावना जिसका साधन है—

१. टी० एस० ईलियट—द हालो मेन।

मात्र विवेक^१ ।” यही नहीं, वह यह भी मानता है कि दूषित परिस्थितियोंने विवेक सिद्धान्तोंका तिरस्कार कर उन बाजीगरों और ज्योतिषियोंको मान्यता दिलाई है जो मानव विवेकपर नहीं बल्कि सकटकालमें उभरने वाली उसकी अन्ध-विश्वासी प्रवृत्तियोंका दुरुपयोग करते हैं। पतनशीलता-के क्षणोंमें, निराशा और कायरताकी घड़ियोंमें, बार बार जनताने इन नटों, बाजीगरों, तान्त्रिकों, ऐन्द्रजालिकों और चमत्कारवादियोंको मान्यता प्रदान की है जो मारण मोहन उच्चाटन और वशीकरणके मन्त्र और अनुष्ठान बताते हैं और अपनी झोलीमें हर व्याधिकी दवा रखनेका दावा करते हैं। वह मार्क्सवाद और बूर्जुआ मनोविज्ञान दोनोंको ही मानवके स्वतन्त्र विवेकका शत्रु मानता है जो केवल सकटके क्षणोंके भावावेशका सहारा लेकर पोषित हो रहे है।

लेकिन कार्ल यास्पर्सके निष्कर्षसे बहुत अंशों तक सहमत होते हुए भी आचरणपर मूल्य-मर्यादाकी व्यापकताके आधारपर हम उसके आकलन के सर्वांशसे सहमत नहीं हो सकते। उदाहरणके लिए यह कहना अन्याय होगा कि मार्क्सने आचरणकी मर्यादा स्वीकार ही नहीं की। यह पहले कहा जा चुका है कि मार्क्सने अपने भौतिकवादकी व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट कहा था कि वस्तुसत्यको धारणा द्वारा नहीं वरन् सक्रियता द्वारा हृदयगम करना चाहिए। इसलिए बार-बार मार्क्सीय शासकों द्वारा यह बताया जाता है कि सैद्धान्तिक चिन्तन ही नहीं वरन् क्रान्तिकारी सक्रियता (Revolutionary Practice) मानव-सत्यके मार्क्सीय रूपको समझनेके लिए अनिवार्य है। लेकिन मार्क्सका यदि आशय यह था कि वह इस सक्रियताको ही आचरणका स्थानापन्न बना दे तो वह सम्भव न

१. कार्ल यास्पर्स—रीज्जन् ऐण्ड ऐण्टीरीज्जन् इन ग्रवर टाइम्स।

२. माग्रो त्से तुंग—ग्रॉन प्रिन्टिस।

हो सका क्योंकि इस प्रकारकी अनुशासित, आयोजित और नियन्त्रित सक्रियता कल-कारखानोंके मशीनी पुर्जों के लिए उपादेय है, मानवीय आचरणके लिए सर्वथा अस्वाभाविक क्योंकि उसमें विवेककी स्वतन्त्रता बिल्कुल नहीं रहती। लेकिन मार्क्सके चिन्तनकी इस हृदबन्दीसे यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि मार्क्स इसके महत्त्वसे अवगत नहीं था और न यही निष्कर्ष निकलता है कि अधुनातन कम्युनिस्ट कमिसार कलाकारके आचरण और विवेकके इस विभाजन द्वारा आ जानेवाले गतिरोध और कुण्ठासे अवगत नहीं हैं। जडैनवके तीव्र भर्त्सनात्मक वक्तव्य तथा कुओ मो जो और चाउ एन लाईके चीनी कलाकारोंके प्रति उद्बोधनात्मक सदेशोंमें इस आन्तरिक सकटकी गहरी चेतना मिलती है किन्तु उनकी सम्प्रदायगत सीमाएँ मानव-विवेकको स्वाधीनता देनेके पक्षमें नहीं है अतः उनका चिन्तन विकासोन्मुख न होकर एक अन्धवृत्तमें ही घूमकर रह जाता है।

मार्क्सवादके बाद इस सांस्कृतिक सकटके दौरानमें दूसरा इन्द्रजाल मनोविश्लेषणका रहा है, जैसा कार्ल यास्पर्स कहता है। इसका कारण यह है कि मनोविश्लेषणने भी ऐसे सिद्धान्त प्रचारित किये हैं जो मानव आचरणको उसके स्वतन्त्र विवेक और वैयक्तिक संकल्पका परिणाम न मानकर उसकी ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जो मनुष्यको एक सभ्य पशु या अनपहिचाना हुआ विक्षिप्त मानती हैं जिसके अनुसार मनुष्यका तथाकथित विवेकपूर्ण व्यवहार भी विश्लेषणके बाद उसके अचेतनमें स्थित दमित वासनाओं, अन्ध प्रवृत्तियों और कुण्ठित कामनाओंकी यान्त्रिक प्रतिक्रिया मात्र सिद्ध होता था। फ्रायडने स्पष्ट कहा था कि हमारे मनकी चेतन परत तो केवल एक तिहाई होती है। उसके नीचे दो तिहाई अर्द्ध-चेतन और अचेतन मानसिकता है जिसका बोध भी नहीं रहता। उन ज़मीं-दोज़ तहखानों, सुरंगों और कालकोठरियोंमें हमारे पुराने भय, पुरानी आशंकाएँ, पुरानी घृणाएँ, बहुत गहरे उतरकर छिपकर बैठ जाते हैं।

और चेतन स्तरपर होनेवाले निर्णयोंको अदृश्य सूत्र द्वारा कठपुतलोंकी तरह संचालित करते रहते हैं ।

इस प्रकार वास्तवमे यास्पर्सका यह आरोप सही सिद्ध होता है कि मनोविश्लेषण एक दूसरे प्रकारकी यान्त्रिकताका प्रतिपादन करता है और स्वतन्त्र विवेक और सकल्पको अस्वीकारकर मनुष्यकी विकासोन्मुख दिशाओंको अवरुद्ध करता है । फ्रायडके चिन्तनकी इसी सीमाको पहिचान कर उसके दोनों शिष्य युग और एडलर उसके जीवन कालमें ही उससे पृथक् हो गये थे, युगने इस यान्त्रिकताके परिहारके लिए व्यक्तित्वके सृजनात्मक सन्तुलनका सिद्धान्त विकसित किया जिसे वह आत्माका स्थानापन्न मानता है । एडलरने मानव व्यक्तित्वको उसके सामाजिक सम्बन्धोंमें आँकनेकी दिशा अपनाई, ग्रोडेकने अहम्के अतिरिक्त अन्तर्जगत्में इदम्की आन्तरिक व्याख्या प्रस्तुत की और उसके बादके बहुतसे चिन्तक विभिन्न दिशाओंमें मनोविश्लेषणके सिद्धान्तका जो विकास कर रहे हैं वह दिनों दिन मानव विवेक और संकल्पके महत्त्वको पुनः स्थापित कर रहा है ।

किन्तु यहाँपर यह सकेत कर देना आवश्यक है मानवीय मूल्य-मर्यादाओंको अपनी सहज प्रकृतिसे ग्रहण करनेवाले साहित्यने मनोविश्लेषण की यान्त्रिकताको कभी भी यथावत् नहीं स्वीकार किया था । फ्रायडके पहले भी कलाकार अन्तर्जगत्के इन रहस्योंसे अपरिचित नहीं था और फ्रायडके दस ही बीस वर्ष पूर्व डास्टावस्कीकी वे अमर कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं जिन्हे मनुष्यके अज्ञात अचेतन जगत्का विराट् मानचित्र कहा जाता है । लेकिन फ्रायडने जब डास्टावस्कीका अध्ययन किया तो उसे कहीं कुछ ऐसा मिला जो उसके यान्त्रिक मनोविश्लेषणके सीमाबद्ध सिद्धान्तमें नहीं बँध पाता था । उसने स्पष्ट कहा कि इस साहित्यमें कहीं कुछ है जिसके सामने मनोविश्लेषणको अपने हथियार रख देने पड़ते हैं । वह कुछ क्या है ?

आज इस प्रश्नका उत्तर सरल है। डास्टावस्की इन अन्ध चेतनाओंकी पराजय और मानवसंकल्पकी विजयको बड़ी सूक्ष्मतासे स्थापित करता है। यद्यपि वह बार-बार ईसाई साम्प्रदायिक चिन्तनकी भाषामें बोलता है किन्तु वह इन आसुरी शक्तियोंपर जोससकी विजयको अनिवार्य मानता है। जोसस वास्तवमें मानवीय सकल्पके विकासोन्मुख रूपका प्रतीक है जो करुणा और क्षमा द्वारा मनुष्यके अन्तरमें पैठी हुई अन्ध आसुरी शक्तियोंको क्षीण कर देता है^१। हिन्दीके उन लेखकोंमें भी जिन्होंने मनो-विश्लेषणका सहारा लिया अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूपसे यह संस्कार रहा है। इलाचन्द्र जोशीने “प्रेत और छाया” की भूमिकामें मनके अतल गह्वरोंमें स्थित नरकमें ही स्वर्गके अवतरणकी कल्पना की थी और अन्तिम कृति जिप्सीमें तो वे जोससकी ही कथाके प्रतीकोंको ले आये हैं। अज्ञेयके शेखर (द्वितीय भागमें) बाबा मदनसिंहका चरित्र और उनके सूत्र जिनमें दर्दके द्वारा विश्वासकी उपलब्धि बताई गई है, इसी प्रवृत्तिके द्योतक हैं। उनकी कुछ कविताओंमें तो यह भी कहा गया है कि यह दर्द जिनको माँजता है उन्हें मुक्त करता है और उन्हींको यह दृष्टि भी देता है कि वे दूसरोंको मुक्त रक्खें।

इधर अन्तर्जगत्की एक नई व्याख्या अरविन्दने दी है जिसकी स्थापनाओंसे लोग पूर्णतया न सहमत हैं किन्तु जिसका Impact भारतीय साहित्यिकोंपर काफी रहा है। फ्रायडके अचेतन और अर्धचेतनकी ही तरह अरविन्दने चेतन स्तरके बाद ऊर्ध्वचेतनाके स्तर परिकल्पित किये और उनके लिए डार्विनके विकासवादके कुछ तर्क अपनाये। अरविन्दने कहा कि अमीबासे लेकर मनुष्य तक जीवकी चेतनाका निरन्तर विकास होता गया है और मनुष्य तक आकर ही सही विकास रुक जाय इसका कोई कारण नहीं दृष्टिगोचर होता। इसके साथ ही साथ पाश्चात्य

मनोविज्ञान मनुष्यके आचरणकी प्रेरणा उसके अतीतमें मानता है, लेकिन उसका भविष्य विकास भी उसके वर्तमान आचरणका कारण (प्रयोजनके रूपमें) बन सकता है इसकी ओरसे वह दृष्टि फेर लेता है^१। अरविन्द और उनके प्रतिभाशाली अनुयायियोंने इस ऊर्ध्वचेतनाके विकासोन्मुख स्वभावकी प्रतिष्ठा कर उसमें संकल्पकी वृत्ति जगाकर उसके आचरणको सार्थक और प्रयोजनवान बनाया यह उनकी बहुत बड़ी देन है। किन्तु जहाँ वे आचरणकी मर्यादाको वर्तमान जीवनके बजाय किसी रहस्यमय भविष्य और मानवोपरि दिव्य सत्यकी ओर उन्मुख मानने लगते हैं, वहीं वे लग-भग उसी प्रकारके पलायनका प्रतिपादन करते हुएसे प्रतीत होते हैं जिसका दोषी मार्क्सीय भाग्यवाद है जो भविष्यके स्वप्नमें मानसिक क्षति पूर्ति करता है। रहस्यवादी चिन्तनोंकी इस दुर्बलताकी ओर आर्थर केस्लर ने अपने प्रख्यात निबन्ध “योगी ऐण्ड द कमिसार” में संकेत किया है जहाँ वह यह कहता है कि अक्सर अपने द्वारा प्रतिपादित मूल्य मर्यादाओंकी स्थापना समाजमें न कर पाकर योगी किसी कल्पित दिव्यता या पर-मत्वमें आश्वसन खोजने लगता है। अरविन्दके दर्शनका यह अंश आचरणके प्रति मानव संकल्पको कहीं दुर्बल तो नहीं कर देता इसके विषयमें अभी काफ़ी आशकाएँ हैं।^२

१. इस विषयमें इण्डियन फिलासफिकल कांग्रेस (१९४६) में मनो-विज्ञान परिषद्के अध्यक्ष रूपमें डॉ० इन्द्रसेनका भाषण पठनीय है जिसमें उन्होंने अरविन्दकी कसौटीपर मनोविज्ञानके आधुनिकतम निकायोंकी परीक्षा की है।

२. शायद इसीलिए इलाचन्द्र जोशीने अपनी एक रेडियोवार्तामें मानवकी इस संकल्पवृत्तिको ऊर्ध्वचेतना कहते हुए भी उसे परिशोधन और प्रगतिकी ओर उन्मुख मानवीय चेतना कहा था। उसकी दिव्यताका वे निषेध करते हैं।

संकल्प और आचरणकी एकतापरक मर्यादाओंका सबसे स्पष्ट निरूपण उन नई विचारधाराओंमें मिलता है जो मानवीय आचरणकी सार्थकता एक ऐसी सामाजिक सन्तुलित वैयक्तिकतामें मानते हैं जो कुछ स्थायी किन्तु विकासशील मूल्यों द्वारा मर्यादित होती है। पश्चिममें ऐसी अधिकांश चिन्तन-धाराएँ, चाहे वे कैथोलिक हों या ईसाई अस्तित्ववादी, बाइबिलमें जीसस्के प्रवचनकी नई व्याख्याएँ प्रस्तुत करती हैं और पूर्वमें इन नई चिन्तनाओंका आधार गीताकी नई व्याख्या है। इन दोनोंमें अद्भुत समानता है। यह गांधीके चिन्तन-विकाससे ही स्पष्ट है जो एक ओर गीता और दूसरी ओर रस्किनके “अन टु दिस लास्ट”, टालस्टायके निबन्धों और जीसस्के पर्वत प्रवचनसे प्रेरित है। गांधी द्वारा प्रस्तुत जीवन दर्शनमें मानव विवेककी स्वतन्त्रताकी एक क्रान्तिकारी व्याख्या की गई है। उनका यह कहना था आचरणमें न केवल संकल्प वरन् साध्य और साधनकी एकता भी आवश्यक है क्योंकि यदि हमारा साध्य समता और प्रेम है और उसकी स्थापनाके लिए हम विषमता और घृणा प्रयुक्त करते हैं तो वास्तवमें हम अपने विवेकको पराधीन ही बना लेते हैं। क्योंकि हमारा आचरण हमारे द्वारा स्वीकृत मूल्यपर आधारित नहीं रहा वह तो प्रतिपक्षीका जवाब देनेके लिए उसीके साधन द्वारा अनुशासित विवेक हो गया। “सामनेवाला जैसा होगा वैसा हम बनेंगे”, इसका मतलब यही हुआ कि वह जैसा हमें नचायेगा वैसा ही हम नाचेंगे। आरम्भ शक्तिकी पहल (Initiative) हमने उसके हाथ सौंप दी। यह पुरुषार्थहीन विचार है और उससे एक दुष्टचक्र तैयार होता है। दुर्जनताका एक सिलसिला जारी है। उसको तोड़ना है तो हिम्मत करनी चाहिए।”^१ इस प्रकार साध्य और साधनके बीच जो खाई पड़ गई थी, उसकी यह सबसे नाजुक दरार थी और हमारे विवेकको पराधीन बनानेवाली सबसे बारीक मगर सबसे

मजबूत जंजीर थी जिसकी ओर गाँधीने संकेत कर विश्वकी विचारधारा-को सबसे अधिक झकझोरा है। यही कारण है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता गया है रोमारोलाँ, स्टीफेन ज्वीग, आल्डुअस हक्सले, केस्लर, आडेन, स्पेण्डर, इशरवुड, ईलियट, हरबर्ट रीड, गेब्रीला मिस्टाल, लिनयुतांग, सभी एकके बाद एक गाँधी-विनोबाकी साध्य-साधन एकताके सिद्धान्तको ही अन्तिम औषधिके रूपमें स्वीकार करते गये हैं। कृष्ण द्वारा उपदिष्ट निष्काम कर्मको मूल्य-मर्यादाको नये ढंगसे विकसित किये बिना, मानव विवेककी इस अन्तिम हिंसा-परक, मिथ्या-परक जंजीरको तोड़े बिना भविष्यका स्वप्न सन्दिग्ध है। इसी तथ्यकी ओर टी०एस० ईलियटका संकेत है जब वह कहता है—

I some times wonder if that is what Krishna meant—
Among other things—or one way of putting the
some thing :

That the future is a faded song, a royal rose or
a lavender spray

Of wistful regret of those who are not yet here
to regret

Pressed between yellow leaves of a book
that has never been opened.²

भविष्यको प्रकाशमें लानेके लिए इस पुस्तकको पहली बार खोलना बिल्कुल हमारे हाथमें है। यह इनिशियेटिव, यह पहल हमारे हाथमें है कि हम अपने द्वारा उपलब्ध मूल्यको इसी क्षण आचरणमें व्यक्त कर

भविष्यका निर्माण करते हैं या नहीं, यदि नहीं तो कोई और भविष्यका निर्माण करने नहीं जा रहा है, वह भविष्य ईलियटके शब्दोंमें विवर्ण संगीत सिद्ध होगा—ऐसे लोगोके लिए भग्न-हृदय पश्चात्ताप जो अभी पश्चात्ताप करनेके लिए पैदा ही नहीं हुए । और चूँकि इतनी बड़ी जिम्मे-वारी हमपर है, अतः हमे सत्यकी निष्ठाके लिए कोई समझौता नहीं करना चाहिए, अपने विवेकपर बाँधी जानेवाली कोई भी जंजीर नहीं सहनी चाहिए और हम अपने विवेक द्वारा जिस परिणामपर पहुँचते हैं, यदि सारी दुनिया भी उसके विरुद्ध हो तो हमे उसपर अटल रहना चाहिए—गाँधी-विनोबाने बार-बार इस आशयकी बात कही है । इसको हम चरम व्यक्तिवादी अराजकताके रूपमे न स्वीकार कर इसके क्रान्तिपरक अर्थ समझ सकेंगे यदि हम एमर्सनका वह कथन याद रखें कि “हर महान् जनक्रान्ति पहले-पहल किसी एक व्यक्तिके मानसमें विचार-बीजके रूपमें स्थित रही है ।”

इसीसे स्पष्ट है कि वैयक्तिक स्वातन्त्र्यपर यह आग्रह १९वीं शताब्दी-की बुजुर्ग व्यक्तिवादी चिन्तनधाराओंके आग्रहसे बिल्कुल अलग है । वे चिन्तनधाराएँ या तो व्यक्तिको केवल एक राजनीतिक वोट मानती थीं, या श्रम कर सकनेवाली एक बिकने योग्य वस्तु । विना आर्थिक सुविधाके व्यक्तिकी राजनीतिक या आर्थिक स्वतन्त्रताकी बात करना एक बुर्जुआ भ्रम था, क्योंकि आर्थिक स्तरपर एक वर्गका व्यक्ति अपना श्रम बेचनेको “विवश” है, दूसरा उसे खरीदनेको “स्वतन्त्र”, एक व्यक्ति पिसनेको “विवश” है और दूसरा पीसनेको “स्वतन्त्र” ।

लेकिन आजकी पूर्वीय और पश्चिमी वैयक्तिकतापरक विचारसरणियाँ वैयक्तिकताके जिस पक्षको विकासकी पूर्ण स्वतन्त्रता देनेका आग्रह कर रही हैं उसका एक अनिवार्य प्रगतिपरक सामाजिक महत्त्व है । इसीलिए मून-यर, बर्डव, कोट्स, मैरिटेन—सभी बुर्जुआ प्रतिक्रियापरक व्यक्तिवादितासे

अपने वैयक्तिकतावादको पृथक् मानते हैं।^१ इसके लिए वे दो पृथक् शब्दोंका व्यवहार करते हैं। Individualism और Personalism इन दोनोंका अन्तर बताते हुए बर्देव यह कहता है कि Indiulduality वह सीमाबद्ध मनोवृत्ति है जो असंस्कृत, असामाजिक अन्धप्रेरणाओंसे या एक विशेष सामाजिक स्थितिके प्रति मानसिक प्रतिक्रियाके रूपमें हमारे व्यक्तित्वमें उदित हो जाती है और हमें व्यक्तिगत स्वार्थों और सीमाओंकी

१. वैयक्तिकतावादका इतिहास बड़ा ही स्फूर्तिदायक और रोमांचक है। वैसे तो ये विचार लाटूजेके ही समयसे विकसित हो रहे थे और कैथोलिक चिन्तकों, अस्तित्ववादियों तथा नवमाक्सवादियों (मैन-हीम, लास्की) ने इसके विकासमें सहायता दी, किन्तु सबसे पहले मूनियर नामक फ्रेन्च विचारकने १९३२में वैयक्तिकतावादी घोषणापत्र प्रकाशित किया। उसके बाद समस्त यूरोप और अमेरिकामें साहित्य, अर्थशास्त्र, आध्यात्मिकचिन्तन, राजनीति, समाजशास्त्र ज्ञानके सभी क्षेत्रोंमें यह सिद्धान्त छा-सा गया। इसके विकासकी कई घटनाएँ बड़ी रोमांचक हैं। मूनियरका पत्र *Espirit* इसका मुखपत्र था; फ्रान्सका पतन होते ही फासिस्टोंके प्रभावसे मार्शल पेटाँने मूनियरको क्रंद कर लिया। पत्रको बन्द करवा दिया। किसी तरह फिर पत्र चला। हालैण्डमें जर्मनोंने बहुतसे राजनीतिक बन्धियोंको कैम्पोंमें नजरबन्द कर रखा था। वे तृतीय युद्धके दौरानमें नाजी जर्मनी, पूँजीवादी अमेरिका और स्तालिनवादी रूस-तीनोंसे निराश थे। उनमेंसे कुछ आस्तिक थे, कुछ नास्तिक। जब उनके पास *Espirit* की प्रतियाँ गुप्त रूपसे पहुँचीं तो उन्होंने पाया कि वे जिन प्रश्नोंका समाधान ढूँढ़ रहे थे, वह इसी दृष्टिकोणमें है। एक विशेषता इसकी यह है कि मूनियर इसे कोई “वाद” न कहकर एक दृष्टि कहता है। ठीक जैसे विनोबा सर्वोदयको “दल” न कहकर “समाज” कहते हैं, “वाद” न कहकर “वृत्ति” कहते हैं।

ओर उन्मुख करती है। Personality व्यक्तिका आन्तरिक धर्म है, विकासोन्मुख मृजनात्मक वृत्ति है जो स्थायी व्यापक मानवीय मूल्योंको उनकी समग्र सम्पूर्णतामें पहचानकर उन्हें दायित्वके रूपमें स्वीकार कर अपने व्यवहारको मर्यादित करती है। इस वैयक्तिकताको सुरक्षित रखना आवश्यक है, क्योंकि वैयक्तिकताका स्फुरण मूल्यकी समग्रताकी खोज और उसकी स्थापनामें ही होता है। प्रत्येक विकासोन्मुख संस्कृतिमें अधिकसे-अधिक महान् लेखक, चिन्तक, कलाकार और वैज्ञानिक होते हैं, क्योंकि उसमें वैयक्तिकताको पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है और अधिकसे-अधिक व्यक्ति मानवताके स्थायी मूल्योंकी खोज, साक्षात्कार और स्थापनामें तल्लीन रहते हैं, अपने ढंगसे, अपनी तात्कालिक ऐतिहासिक स्थितिमें उस मूल्यकी व्याख्या करने, उस शाश्वतको क्षणमें बाँधने और उस क्षणमें प्रगति या विकास करनेको स्वतन्त्र रहते हैं।

प्रख्यात फ्रेन्च अस्तित्ववादी नाटककार गैब्रील मार्सेल इसकी व्याख्या बड़े स्पष्ट शब्दोंमें करता है—“हम आज कहते हैं कि हमारी संस्कृति मरणोन्मुख है। इसके अर्थ क्या हैं ? क्या कोई भूचाल उसे नष्ट कर रहा है, क्या कोई जलप्रलय आ रहा है, या ऊँची-ऊँची पक्की इमारतोंकी छतें गिर रही हैं, या कोई महामारी फैल रही है। नहीं, बाह्य जगत्में यह सब कुछ नहीं होने जा रहा है। मरणोन्मुख संस्कृतिसे मतलब यह होता है कि हमारी संस्कृतिका आन्तरिक मूल्य कुछ नहीं रहा। मनुष्यमें आन्तरिक रुग्णता आ गई है। क्या यह आन्तरिक रुग्णता केवल एक शिविरमें या एक व्यवस्थाकी संस्कृतिमें है ? नहीं। हमारी वर्तमान स्थितिमें दोनों ओर-की सत्ताएँ प्रगतिकी शत्रु हैं। अतः वे जान-बूझकर मनुष्यकी आन्तरिक वैयक्तिकताको रुग्ण और कुण्ठित बना रही हैं। वैयक्तिक आन्तरिकताके विरुद्ध इस गुप्त कीटाणु-युद्धके तरीके बड़े ही विचित्र और नृशंस हैं। व्यक्तिमें भयका संचार किया जाता है, उसके स्वाभिमानको तोड़ा जाता है, घृणा और हिंसाके भावावेशमें लाया जाता है, सूक्ष्मतम मनोवैज्ञानिक

साधनोंसे उसे इतना जर्जर कर दिया जाता है, कि वह अपनी वैयक्तिकता-पर अधिकार खो बैठता है, जिन कर्मोंको करता है उनका उत्तरदायी अपनेको नहीं मानता और जिन कर्मोंको नहीं करता उनका अपराधी अपनेको मानकर झूठे बयानपर स्वेच्छासे हस्ताक्षर कर आता है, धीरे-धीरे वह विवेकसे शून्य, स्वतन्त्र संकल्पसे रहित, भावावेशों, बाह्य हिप्नाटिक प्रभावों और ऐन्द्रजालिक अन्तर्विरोधोंसे परिचालित मानव यन्त्र मात्र रह जाता है। भय संचारकी इस टेकनिकका पूर्णतम विकास पूँजीवादी देशोंमें अणुबमके रूपमें हुआ है और साम्यवादी देशोंमें चिन्त-पारतन्त्र्यके रूपमें।^१

इसीलिए आज इस नये प्रसंगमें वैयक्तिकताकी स्वतन्त्रताकी माँगका अर्थ प्रगतिकी स्वतन्त्रताकी माँग करना है, संस्कृतिकी रुग्णतासे मुक्त रखनेकी माँग करना है। वैयक्तिकताकी सुरक्षाकी हुंकार बड़े स्पष्ट रूपसे लुई मैकनीसने अपनी एक कवितामें की है जहाँ एक अनजनमा शिशु जन्मके पूर्व अपनी कुछ शर्तें रखता है।

I am not yet born : O hear me

Let not the blood sucking rat or the bat stoat or the
Club footed ghoul come near me.

I am not yet born; console me

I fear that the human race with tall walls wall me,

With strong drugs dope me, with wise lies lure me,
On black racks rack me, in blood battles roll me.

I am not yet born; O fill me

With strength against those who would freeze my

१. ग्रैब्रील मार्सेल-मेन अग्रेन्स्ट ह्यूमेनिटी।

humanity, would dragoon me into a lathal automaton

Would make me a cog in the machine, a thing with

One face, a thing, and against all those

Who would dissipate my entirety, would

blow me like thistledown hither and

thither or hither and thither,

like water held in the

hands would spill me.

Let them not make me a stone and let them not
spill me.

Other wise killme.⁴

आचरणकी मर्यादा-स्वातन्त्र्य;

स्वातन्त्र्यकी मर्यादा ?

वैयक्तिक स्वातन्त्र्यकी इस अदम्य घोषणाका अर्थ अराजकता, उच्छृङ्खलता, निरंकुशता और दायित्वहीनता नहीं है। उसके साथ एक दायित्व भी है—मूल्योंकी खोज, उनकी मानववादी सामाजिक व्याख्या और आचरणमें इसकी सक्रिय परिणति। पाश्चात्य वैयक्तिकतावादी चिन्तकोंकी भाषामें यह वैयक्तिकता मूल्योंके ग्रहण और विकासकी दिशामें स्व-संचालित गति है, जिसमें स्वातन्त्र्य और दायित्वका आन्तरिक विकासोन्मुख समन्वय रहता है।^१ गीताकी भाषामें विनोबाने स्वातन्त्र्य और

१. प्रेयर ऑफ़ ऐन अनबार्न चाइल्ड ।

२. तत्सम्बन्धी पाश्चात्य वैयक्तिकतावादी चिन्तकोंके विस्तृत विचार जाननेके लिए द्रष्टव्य—जे. बी. कोट्स लिखित—द क्राइसिस ऑफ़ ह्यूमन परसन ।

सामाजिक मूल्यगत दायित्वके इस समन्वयको स्वधर्म (स्व + धर्म) की संज्ञा दी है:—“स्वधर्म कितना ही विगुण क्यों न हो.....उसीमें रहनेसे विकास हो सकता है। यही विकासका सूत्र है। स्वधर्म ऐसी वस्तु नहीं जिसे बड़ा समझकर ग्रहण करें व छोटा समझकर छोड़ दें। वस्तुतः वह न बड़ा होता है न छोटा। वह हमारे ब्यौत भरका होता है”^१। अपने ब्यौतके अनुसार, अपने “स्व”के अनुसार धर्म या दायित्वकी स्वीकृति हर व्यक्तिको उसकी वैयक्तिक सार्थकता प्रदान करती है, इसीके द्वारा उसके स्वतन्त्र अस्तित्वको नये सामाजिक अर्थ मिलते हैं। और वह विकासोन्मुख संस्कृतिकी प्राणवान् इकाई बननेमें समर्थ हो पाता है। मानवीय संस्कृतिका विकास केवल नये बाँध, नई रेलें, नये नगरोंका विकास नहीं है, वह मानवकी आन्तरिकताका विकास है जो दर्शन, चिन्तन, कला, संगीत, साहित्य, स्थापत्य, अर्थ और राजनीतिके क्षेत्रोंमें मूल्योंके नित्य नवीन विकासको नियोजित करता है। यह उसी सांस्कृतिक व्यवस्थामें सम्भव है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है और अपने दायित्वको खोजकर, उससे अपनत्व अनुभव कर, उसे अपना स्वधर्म मान कर उसीमें अपने अस्तित्वकी सार्थकता मानता है।

मूल्यपरक दायित्वको स्वीकार न कर जो मूल्यहीन स्वतन्त्रतापर ही आग्रह करते हैं उनकी वैयक्तिकता कितनी बंजर और शून्य, कुहायुक्त, दिशाहीन भूलभुलैयामें भटक जाती है। इसका शायद सबसे रोचक और सबसे ताज़ा उदाहरण जाँ पाल सार्त्र और उसका नास्तिक अस्तित्ववाद है। सार्त्रने स्थायी मानव मूल्योंको आमूल अस्वीकृतकर व्यक्तिकी अबाध किन्तु अस्वाभाविक और अमर्यादित स्वतन्त्रताका प्रतिपादन किया है। वह मनुष्यको बिल्कुल स्वतन्त्र, निरपेक्ष सत्ता मानता है जिसकी कोई मर्यादाएँ

नहीं, कोई मूल्य नहीं, कोई नैतिकता नहीं, कोई प्रभु नहीं, कोई पूर्व-निश्चित मानवीय स्वभाव नहीं—वह परम स्वतन्त्र है, काल और दिशासे भी मुक्त, केवल स्वतन्त्रताकी एक सत्ता । अपनी इस स्थितिमें सार्त्र एक तीव्र संहारकारी अनास्था मात्र है, एक विराटकाय विध्वंसकारी संशय जो सारी स्थापित मर्यादाओंके मूलको ही नहीं मानता । जो एक सीमाहीन शून्यताके सागरमें निरुद्देश्य डोल रहा है ।^१

किन्तु केवल यही सार्त्रके कला-व्यक्तित्वका विराम-चिह्न होता तो शायद उसका साहित्य इस तरह यूरोपपर न छा गया होता । किसी तरह मूल्यगत दायित्वकी गुरुता और आचरणका सकल्प अपनी ही चिन्तन-सीमामें विकसित करनेकी उसकी प्यास भी इतनी तीखी रही है कि उसने एक वक्तव्यमें विचित्र तर्कों द्वारा अपने अस्तित्ववादको मानववादकी ही शाखा सिद्ध करनेका प्रयास किया है । पाठक सहजमें ही उन स्थापनाओंसे सहमत नहीं हो पाता तो भी इससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि वह अपनी दायित्वहीन निरर्थक स्वतन्त्रताकी यातनापूर्ण यात्रामें एक क्षण भी उसे नहीं भूल पाया है जिसे छोड़कर (यास्पर्सके शब्दोंमें) हम बार-बार गलत पगडण्डियोंपर भटकने लगते हैं । एलेनके शब्दोंमें सार्त्र उन चिन्तकोंमें-से है जो प्रभु (मूल्य-मर्यादा) को स्वीकार भी नहीं करते पर उसे भूल भी नहीं पाते । साहित्यकारकी सहज आन्तरिक निष्ठाने ही धीरे-धीरे सार्त्रको भी उसकी चिन्तनकारासे मुक्ति दिलाकर व्यापक मूल्यगत-दायित्वको स्वीकार करनेके प्रति उन्मुख किया है और धीरे-धीरे वह भी एक नैतिक विवेकको स्वीकार करता जा रहा है जो मूल्यगत दायित्वसे युक्त है और जिसके प्रसंगमें उसकी मित्र, शिष्या और समीक्षक इरिस मर्डाकका कहना है कि उसकी वर्तमान गति पूँजीवादी जर्जर व्यक्तिवाद और कम्युनिस्ट

१. सार्त्रके उपन्यासोंके प्रमुख पात्रोंकी मनोवृत्ति ।

दलानुशासनके बीच एक मध्यमार्गकी ओर है जहाँ मनुष्य अपने माग्यका निर्माता स्वयं बन सकता है ।

साहित्यमें मूल्यगत मर्यादाके विकासकी सहज प्रकृति सदैव ही स्वातन्त्र्य और दायित्वके इस समन्वयको मान्यता प्रदान करती रही है, यह न केवल आधुनिक वरन् मध्यकालकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंसे भी प्रमाणित होता है । वैष्णव मानववादी चिन्तन और साहित्य परम्परामें जहाँ एक ओर कलाकारमें अपनी वैयक्तिकताके प्रति अगम्य आत्माभिमान था, वहीं एक विराट् मूल्य-मर्यादा, एक महान् दायित्वके प्रति आत्म-समर्पण भी था । वैष्णव कवि जब एक ओर कहता था—“आज हैं एक-एक करि टरिहौं । कै हमही कै तुमहीं माधव अपुन भरोसे लरिहौं ।” तो दूसरी ओर उसका समर्पण भी अद्भुत था—“तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकम् तस्मिन्नेव करणीयम् ।’ मध्यकालीन वैष्णव चिन्तकके लिए वास्तवमें प्रभु मानवीय मूल्यकी चरम पूर्णताका ही पर्याय था, उस मूल्य-मर्यादाको ग्रहण करनेका पथ उच्छृङ्खलताका नहीं वरन् स्वतन्त्रता और दायित्वसे समन्वित “स्वधर्म” का पथ है, भक्तिका पथ है, जो तुलसी-के शब्दोंमें “विरति” और “विवेक”से “संजुत” है । मानववादी साहित्यकी यह एक स्थायी प्रकृति है जो बराबर विकसित होकर युगके दायित्वको ग्रहण करती चलती है । इसलिए आजका मानववादी कलाकार भी भक्तिकी ही शाश्वत मर्यादाको “क्षण”में बाँधता है :—

यह दीप अकेला स्नेह भरा

है गर्व भरा मदमाता, पर

इसको भी पंक्तिको दे दो ।

(पर इसकी अपनी अद्वितीयता है, वैयक्तिकता है :—)

यह जन है, गाता गीत जिन्हें फिर और कौन गायेगा ?

पनडुब्बा : ये मोती सच्चे फिर कौन कृती लायेगा ?

यह समिधा : ऐसी आग हठीला बिरला मुलगायेगा ।

यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयं विसर्जित :

यह वह विश्वास नहीं जो अपनी लघुतामें भी कांपा

वह पीड़ा, जिसकी गहराईको स्वयम् उसीने नापा

कुत्सा, अपमान, अवज्ञाके धुंधुआते कड़वे तममें

यह सदाद्रवित, चिर-जागरूक, अनुरक्त नेत्र

उल्लम्ब-बाहु, यह चिर अखण्ड अपनापा ।

जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय

इसको भी भक्तिको दे दो : (अज्ञेय : यह दीप अकेला)

यह दीप वास्तवमें कविकी वैयक्तिकता है जो अ-द्वितीय है । अखण्ड अपनापा है, गर्व भरा है किन्तु मानवीय मूल्य-मर्यादाके प्रति स्नेह भरा भी । उसमें अपनी आग है किन्तु भक्तिको, पंक्तिको, प्रकाशको अर्पित होनेमें ही उसकी सार्थकता है । यह अर्पण उसपर लादा हुआ नहीं है, उसका स्वधर्म है, उसके “स्व” से विकसित है—“यह मैं स्वयम् विसर्जित !”

स्वातन्त्र्य और दायित्वकी इसी सामंजस्यमयी मर्यादाकी ओर आधुनिक कैथोलिक कवि चार्ल्स पेगी अपनी “फ्रीडम” शीर्षक कवितामें संकेत करते हुए मनुष्यकी तुलना एक ऐसे शिशुसे करता है जो अभी तैरना सीख रहा है । पिता शिशुको हाथका सहारा मात्र देकर उसे धारामें छोड़कर तैरना सिखाता है, क्योंकि यदि वह उसे धारामें मुक्त न छोड़े तो बिना इस स्वतन्त्रताके वह कभी तैरना नहीं सीख सकता और यदि वह उसे बिलकुल मुक्त छोड़ दे, हाथका भी सहारा न दे तो वह उसी समय डूब जायगा । आश्चर्यजनक यह है कि बिलकुल यही रूपक वैष्णव चिन्तनमें भी मिलता है जहाँ प्रभु (या मूल्य-मर्यादा) द्वारा निरुद्ध जीव भवसागरमें बहते हुए उस फूलके समान है जिसे प्रभुने जलमें हथेली डाल कर अंजलिमें

निरुद्ध कर लिया है, इस प्रकार वह “जन” भवसागरमें भी है, और प्रभुकी अंजलिमें भी। दूसरी भाषामें इसे कहें तो इसका रूप यह है कि स्वतन्त्रता और दायित्वसे युक्त व्यक्तित्व वैयक्तिक स्थितिमें स्वतन्त्र भी है और फूलकी तरह मूल्यकी विराट् अंजलिमें भी। किन्तु यदि हम मूल्यगत दायित्वकी मर्यादासे वंचित हो जाते हैं तो हमारी वैयक्तिकता प्राणहीन, गतिहीन, होकर मूल्यहीनताके अथाह सागरमें डूब जाती है—
“हरिणा ये विनिर्मुक्ता ते मग्ना भवसागरे।”

भक्तिकी यह भावनामयी शैली किसी दिव्य मानवोपरि भ्रमकी ओर हमें न ले जाय इसलिए यह संकेत कर देना आवश्यक है कि अन्ततोगत्वा हमारा यह दायित्व मानवीय मूल्यके ही प्रति है। रूपककी भाषामें कविने उसे प्रभु कहा हो किन्तु उसका तात्पर्य मानवीय मूल्योंकी समग्रतासे ही है जिसका प्रतिफलन हमारे सक्रिय जीवनमें होता है। इस तथ्यको साहित्य ने अपनी सहज प्रकृति द्वारा सदैव पहचाना है। मध्ययुगका सन्त कवि कहता है **“जेती चल् तैती परदखना जो कुछ करूँ सो पूजा।”** आधुनिक प्रयोगशील अंग्रेजी काव्यका प्रवर्तक गेरार्ड मैन्ले हापकिन्स कहता है—
“निहाई पर हथौड़ा चलाना, शहतीर चीरना, दीवारोंपर सफ़ेदी करना, घोंड़े हाँकना, सड़क बुहारना, यह सब प्रभुके गौरवका परिवर्धन करते हैं, “अतः मेरे बन्धुओ, जिन्दगी जियो !” क्योंकि इसी प्रक्रियाके द्वारा हम मानवीय मूल्यको, प्रभुको सतत निर्मित और विकसित करते चलते हैं। रिल्क प्रभुसे कहता है—**“We are all workmen : prentice, journey-man/or master/....building you—you towering nave.”**

इसीको प्रतिध्वनित करते हुए सेसिल डे ल्वूइस कहता है—

“God is a proposition,/And we who prove him are his priests, his chosen.”

इतना ही नहीं, रिल्क तो स्पष्ट चुनौतीके स्वरमे यह भी घोषणा करता है कि प्रभुकी सार्थकता भी मनुष्य ही है, क्योंकि अन्ततोगत्वा प्रभु मानवीय मूल्योंकी ही समग्रताका परम रूप है—

What will you do, God, when I die ?

When I your pitcher, broken, lie ?

I am your garb, the trade you ply

You lose your meaning, losing me.

अन्ततोगत्वा हमारा दायित्व मानवीय मूल्यके ही प्रति है यह न केवल रिल्क और हापकिन्सकी भाँति आस्तिक मानववादियोंने स्वीकार किया वरन् नास्तिक समाजवादियोंका भी झुकाव इसी ओर रहा। सोवियत साहित्य भी बार-बार अपनेको सामाजिक मानववाद या नव मानववादकी सज्ञासे अभिहित करता रहा, किन्तु वहाँ रह-रहकर यह तथ्य भुला दिया गया कि साहित्य केवल मूल्यगत मर्यादा ही ग्रहण कर सकता है सम्प्रदायगत मर्यादा नहीं। जिन समाजवादी कलाकारोंको मानवीय मूल्यके पक्षमें सम्प्रदायको तिलाजलि देनी पड़ी है वे इस सूक्ष्म सत्यको भली-भाँति हृदयंगम कर पाये हैं। तोगलियाती, थेलमैन और स्टालिनके सहयोगी सक्रिय कम्युनिस्ट लेखक इगनात्सियो सिलोनेने पार्टी छोड़नेके बाद जो कहा वह बहुत महत्वपूर्ण है—“समाजवादमें मेरा विश्वास आज पहलेकी अपेक्षा कहीं दृढ़तर है।....मैं भाग्य जैसी चीज़ नहीं मानता....मैं मानता हूँ मनुष्य सबसे ऊपर है। आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ जो आज उसका गला दबाती हैं, जब उसकी दासी बनेंगी तभी समाजका कल्याण होगा। सालपर साल बीतते गये हैं और मुझे एक श्रद्धाका भाव तीव्रतर होता गया है, मानवकी श्रेष्ठता और उसकी उस विकासोन्मुख चेतनाके प्रति भी जो उसे कभी भी चैन नहीं लेने देती।....लेकिन मेरा ख्याल है ऐसे समाजवादमें विश्वास रखनेवाला केवल मैं अकेला नहीं हूँ। ये

“पागलपनसे भरे हुए सत्य” तो मार्क्सवादसे भी पुराने हैं। “अधिक अध्ययन और अनुभूतिके फलस्वरूप (मार्क्सवादके) वर्तमान सिद्धान्त निरर्थक सिद्ध हो सकते हैं किन्तु समाजवादी धारा फिर भी चलती रहेगी। समाजवाद किसी एक पद्धतिका दास नहीं, वह तो एक आस्था है। समाजवादी चिन्तन सम्प्रदाय अपनेको वैज्ञानिक सिद्ध करनेकी जितनी चीख पुकार मचाते हैं उतने ही क्षणभंगुर सिद्ध होते जा रहे हैं, समाजवादी मूल्य स्थायी हैं। सम्प्रदाय और मूल्यके भेदपर आज ध्यान नहीं दिया जा रहा है किन्तु वह भेद मूलगत है। सम्प्रदायका सगठन कर एक पन्थ चलाया जा सकता है किन्तु मूल्योंके आधारपर सभ्यता और संस्कृतिका गठन होता है नये जीवनकी सृष्टि होती है।”

नया दायित्व

मानवीय मूल्यके प्रति प्रत्येक शिविर और प्रत्येक धारामे उभरकर आनेवाली यह आस्था हमारी उस प्राथमिक स्थापनाको सिद्ध करती है कि इस संकटमें भी मनुष्य हारा नहीं है बल्कि उसने उसका प्रत्युत्तर दिया है और दिनों-दिन उसने और भी सशक्त स्वरोंमें घोषित किया है कि वह प्रगतिका सूत्र है और इतिहासका निर्माता है। साम्प्रदायिक अनुशासन जहाँ भी उसकी प्रगति चेतनामे आडे आये है, उनका उसने साहसपूर्वक अतिक्रमण किया है। उसकी यह यात्रा सरल नहीं रही है, किन्तु सेसिल डे ल्यूइसके शब्दोंने उसने “निराशामेंसे जिन्दगीकी चिनगारी ढूँढी है और इस्पातमेंसे गीत जगाये है।”

यह नयी मर्यादा एक सक्रिय दायित्वके रूपमें विकसित हुई है, अतः एक जागरूक अनवरत अथक क्रियाशीलताके प्रति सशक्त आह्वान है। मानवीय मूल्य विराट् मानवजीवनकी अगणित शिराओंमें संचरित होता रहता है। जहाँ भी यह रक्त प्रवाह रुका वही अंग पक्षाघातसे आहत होकर सूख जाता है, बेकाम हो जाता है। हमारी मानव-संस्कृतिमें आज

पूरे देश, पूरी जातियाँ, पूरे सम्प्रदाय, पूरी चिन्तन-धाराएँ और पूरेके पूरे साहित्यिक निकाय इस मूल्यहीनतासे, इस पक्षाघातसे अशक्त होकर प्रगति और विकासकी दिशाओंसे भटक गये हैं। हमारे सामने मानवीय मूल्यको पूरी संस्कृतिके प्राणोंमें प्रतिष्ठित करनेका जटिलतम दायित्व है।

मैं यह नहीं स्वीकार कर पाता कि यह कार्य अपने आप होगा। यह “अपने आप” विकास होनेकी बात चाहे बाह्य अर्थ-व्यवस्थाके रूपकमें कही जाय या अवतरित होनेवाली चेतनाके रूपकमें, किन्तु यह हमारे दायित्व के महत्त्वको घटा देती है। यह दायित्व हमारा है, हम विकास करेंगे तो विकाम होगा; नहीं करेंगे तो नहीं होगा। नहीं करनेकी सम्भावना भी अप्रिय सम्भावना है किन्तु असम्भव नहीं। क्योंकि जहाँ इतिहास एक ओर मनुष्यके साहसका साक्षी रहा है, वही वह इस बातका भी साक्षी है कि अक्सर ऐतिहासिक निर्णयके क्षणोंमें मनुष्यने कायरता दिखाई है, उसने स्वातन्त्र्य अस्वीकार किया है, दासता स्वीकार की है क्योंकि दायित्व वहन करना साहसका काम है, और दासतामें दायित्वका कोई प्रश्न नहीं उठता। दास तो केवल दूसरोंके आदेश वहन करता है^१।

आजकी व्यापक सांस्कृतिक रुग्णतामें यह दासत्व-भावना और प्रगति-विरोधी निष्क्रियता बहुत सहज सम्भाव्य है क्योंकि टी० ए० ईलियटके शब्दोंमें “हमारा हृदय हमसे अलग जा पड़ा है और हमारा दिमाग प्याज-के छिलकोंकी तरह उतर गया है—“क्योंकि हम एक अज्ञात भयसे आकुल हैं जिससे हम आँख नहीं मिला सकते”।” यह भय बड़े गुप्त रूपसे सभी प्रतिक्रियावादी राज्य-सत्ताओं सम्प्रदायों और व्यवस्थाओं द्वारा मानव संस्कृतिकी गिराओंमें विषैले कीटाणुओंकी तरह सूइयों द्वारा पहुँचाया गया

१. बर्डेव—स्लेवरी ऐण्ड फ्रीडम।

२. मर्डर इन द कैथेड्रल।

है, ताकि अन्दर-ही-अन्दर यह मानवीय मूल्यके प्रति हमारी आस्थाको जर्जर और रुग्ण कर दे और हमारी विकासोन्मुख चेतना अन्धी हो जाय । इतनी अन्धी कि हम दासताकी-निष्क्रियताको ही एक मात्र समाधान मान लें । इस अत्यन्त लज्जाजनक और करुण स्थितिका एक अत्यन्त मर्म-स्पर्शी चित्रण महत्तम आधुनिक ग्रीक कवि कैवेफीने किया है । अपनी एक मार्मिक कविता “बर्बरोंकी प्रतीक्षा” में वह लिखता है :—

चौराहोंपर एकत्रित हम किसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ?

आज बर्बर लोग नगरमें, प्रवेश करेंगे ।

सीनेट कोई निर्णय क्यों नहीं लेती

इतने तड़केसे हमारा सम्राट् जाग कर

मुकुट पहन कर, नगर-द्वारके पास सिंहासन डलवा कर

क्यों बैठ गया है ?

वह बर्बर सरदारका इस्तकबाल करेगा

वह उसे शिरोपेच भी देगा

और खिताब भी

हमारे महान् वक्ता आज चुप क्यों हैं ?

बर्बर लोग नगरमें प्रवेश करेंगे,

वे कलात्मक भाषण पसन्द नहीं करते

यह शोर और हलचल क्यों ?

सहसा सबके चेहरे कितने गिर गये

सड़कें और चौराहे खाली होने लगे ।

सब उदास अपने घर लौट रहे हैं ।

क्योंकि रात हो गई और बर्बर विजेता नहीं आये

सरहदोंसे एलची लौट आये,

वे कहते हैं कि बर्बर विजेता अब नहीं रहे ।

ग्रोह बिना बर्बर विजेताओंके अब हम क्या करेंगे ?

वे लोग कमसे कम कुछ समाधान तो प्रस्तुत कर देते थे !

समकालीन सकटकी उलझनोंसे भरी हुई जटिलतामें मानवीय मूल्य-मर्यादाको स्थापित और विकसित करनेके स्वातन्त्र्यपूर्ण दायित्वकी स्वीकृति का साहस न कर सकनेवाले कितने ही चिन्तक, लेखक और कलाकार इस दासताके तथाकथित कायरतापूर्ण सरल समाधानको जूएकी तरह स्वीकार कर इस भयके शिकार बन चुके हैं । प्रगति और विकासकी दिशामें मानव-इतिहासको मोड़नेके लिए प्रत्येक जागरूक साहित्यकारको इस भयके विरुद्ध अनवरत संघर्ष करना है । यह भय मनुष्यकी शिराओंमें मानवीय मूल्यके स्वस्थ रक्तको कीटाणुओंकी तरह दूषित कर रहा है । यह भय इस शिविर या उस शिविरमें हो सीमित नहीं है, यह एक दम घोटनेवाले वातावरणकी तरह पूरी धरतीको घेरे हुए है । समकालीन कथाकार विलियम फाकनरने नोबेल पुरस्कारके स्वीकृति-भाषणमें कहा है—“हमारा संकट यह है कि एक सर्वव्यापी भय हममें समा गया है, जिसे हमने इतने दिनों-तक वहन किया है कि अब हम उसे सहने भी लगे हैं ।.....लेकिन नये साहित्यकारको यह सीखना है कि संसारकी सबसे पतित भावना है—भयकी भावना !” बिल्कुल यही बात प्रकारान्तरसे वियनाके शान्ति-सम्मेलनमें जॉ पाल सार्त्रने कही थी—“समकालीन राजनीति और चिन्तन पद्धतियाँ चाहे वे किसी भी शिविरकी हों, भयपर आधारित है । अतः वे मिथ्याको प्रश्रय देती हैं और पारस्परिक हिंसा प्रेरित करती हैं । उनके कारण हमारे बीचमें भयकी दीवारें हैं । शिविर और दल मिथ्या हैं । हम सत्य हैं, क्योंकि हम जो जीते हैं वही इतिहास है ।”

साहित्यकारका यह नया दायित्व इतिहास-निर्माणका दायित्व है, मानव-संस्कृतिके मूल्यात्मक विकासका दायित्व है और सामान्य व्यक्तिके

दायित्वसे कई गुना अधिक जटिल दायित्व है; क्योंकि साहित्यकारकी पक्ष-धरता और संघर्ष विवेकका स्तर बहुत गहरा है। उसे मानव अस्तित्वकी गहन परतोंमें उतरकर उसकी रक्त शिराओंमें चलनेवाले भय और साहसके संघर्षमें भयको पराजित करना है, उसके छोटे छोटे क्षणमें जीवन-प्रक्रिया को उद्बुद्ध करना है, उसकी भावनाओंके सूक्ष्मसे सूक्ष्म तन्तुमें स्फुरित होनेवाले मानवीय मूल्यकी विशदताको पहचानना है; यही नहीं, वरन् उसे इस सकट-कालके उखड़े-पुखड़े हुए, अर्द्धध्वस्त, प्लावनोत्तर सामाजिक ढाँचेमें हरेक भटके हुए व्यक्तिकी जीवन-प्रक्रियासे अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर, उसके जीवनके क्षणोंको स्वतः जी कर, उसके द्वारा की गई मूल्योंकी निजी खोज और उनके विकासके मर्मको समझ लेना है और इन समस्त उपलब्धियोंको साहसपूर्वक मानव इतिहासके एक नये और सबसे पूर्ण, प्राजल और प्रकाशमान युगकी ओर प्रेरित करना है। साहित्यकी यह नयी मर्यादा सरल नहीं है, किन्तु यदि इसी क्षण साहित्यकार इसे स्वीकार नहीं करता भयके कारण, संशयके कारण या असमजसके कारण, तो वह एक खतरनाक मोड़पर क्रान्ति और इतिहासके प्रति विश्वासघात करता है।

इस दायित्वको पूर्ण करनेके लिए साहित्यकारके पास एक ही माध्यम है—शब्द। इस सकटने शायद शब्दको, भाषाको सबसे अधिक क्षत-विक्षत किया है। भाषा हमारी जीवन-प्रक्रियामें उपलब्ध रागात्मक मूल्यों को अभिव्यक्त कर, एक व्यक्तिके उपलब्ध सत्यको दूसरे व्यक्ति द्वारा उपलब्ध शब्दसे जोड़कर एक सामाजिक सेतु बनती है। मानवीय मूल्योंमें सकट आते ही भाषाकी यह सार्थकता जाती रही। वह यथार्थसे विभिन्न होकर अपने स्वतन्त्र नियम और सिद्धान्त विकसित करने लगी—अर्थ रहित प्रतीक, टूटे चित्र, स्वप्नोंकी सी अराजकता, संगीतकी सी निरर्थकता। दूसरी ओर राजसत्ताओंने भाषाकी सामाजिक उपयोगिता पहचानी और

उन्होंने उनका गहिँत दुरुपयोग करना प्रारम्भ किया । उन्होंने शब्दोंके अर्थ बदलने प्रारम्भ किये—शान्तिके अर्थ आक्रमणकी तैयारी, मैत्रीके अर्थ आर्थिक और सामरिक पारतन्त्र्य । यही नहीं, वरन् प्रेस, रंगमंच, साहित्य, रेडियो और बुलेटिनोके द्वारा हर शब्दको इस गुप्त कीटाणु युद्धका साधन बनानेके लिए, भावावेश, पागलपन, भय और मूर्छासे विषाक्त कर दिया गया ।

इतनी दूषित भाषाके द्वारा इतना जटिल दायित्व पूरा करना है । इसका एक ही समाधान है । लिखते समय हर शब्दको अपने निर्मम विवेककी कसौटीपर कमकर देख लेना है कि वह खरा सोना है या नहीं । यदि नहीं, तो अपनी गहनतर अनुभूतियोंसे हर शब्दको मानवीय मूल्यसे पुनः अभिव्यक्त कर जब उसे क्रलमपर उतारनेका साहस करना चाहिए । भाषाके सम्बन्धमे हमारा यही क्रान्तिकारी दायित्व है । विनोबाने भी एक स्थलपर कहा है—“पुराने शब्दोंपर नये अर्थोंकी क्रलम लगाना ही विचार-क्रान्तिकी सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है ।” ये नये अर्थ मूल्यगत-अर्थ हैं । यही कारण है कि साहित्यमे शब्द तभी समर्थ, प्रेषणीय और प्राणवान् बनते हैं जब उनमे मानवीय मूल्य आन्तरिक रूपसे प्रतिष्ठित रहता है । अन्यथा वे बाँमपर लटकाये गये चीथड़ोंकी तरह पशुओंके लिए भयोत्पादक और विवेकपूर्ण मनुष्यके लिए हास्योत्पादक बन जाते हैं । क्रान्तिके नामपर आनेवाले, मूल्यमर्यादासे रहित बहुतसे आवेशपूर्ण साहित्यका यही भाग्य रहा है ।

साहित्यकी इस नयी मर्यादाका उदय इतिहासके धूल भरे पन्नोंमे खो जानेवाली एक विस्मृत कथा बनेगा, या नव निर्माणकी, प्रगतिकी, विकासकी भूमिका—यह हमारे इसी क्षणके चुनावपर निर्भर करता है । प्रश्न सम्प्रदायों और सत्ताओंका नहीं है । प्रश्न मानवीय मूल्य-मर्यादा, उसकी साहसपूर्ण स्वीकृति और निष्ठापूर्ण आचरणका है । चुनाव स्पष्ट है, हम चाहे तो भयसे वाणीको रुग्ण और जर्जर बना डालें—चाहें तो साहसको

वरण कर अपनी वाणीको इस नयी मर्यादाकी अपराजेय तेजस्वितासे अभिषिक्त कर इतिहासको नया मोड़ दे दें। अज्ञात भविष्यमें हमारा साहित्य कहाँतक स्थायी रहेगा, यह भी इसीपर निर्भर करता है कि हम इसी क्षण अपने कृतित्वमे स्थायी मानवीय मूल्यके समस्त सम्भावित विकासका कहाँतक और कितनी गहराईतक साक्षात्कार करा पाते हैं।



नये मूल्य और विविध सन्दर्भ

•

समीक्षाके आयाम

समकालीन साहित्य-सृजनमें शायद आलोचनाका क्षेत्र सर्वाधिक जन-संकुल है। गहनताकी बात तो कहना कठिन होगा, शायद स्तर भी बहुत सन्तोषजनक नहीं है, किन्तु उत्साह और परिमाण दोनों दृष्टियोंसे आज वहाँ अधिक क्रियाशीलता परिलक्षित होती है। साहित्य जिस द्रुत गतिसे विकसित हो रहा है, उसके सांस्कृतिक मूल्योंमें जितनी तेजीसे परिवर्तन हो रहा है, भावभूमिमें जितना गहन विक्षोभ आ गया है, नवीनतम चेतनाओं को ग्रहण करनेकी जो आतुरता है, शिल्पके स्तरपर जितनी सशक्त अन्वेषण-प्रवृत्ति जाग उठी है, भाषा और उसकी शक्तियोंको जितने अप्रत्याशित मोड़ दिये जा रहे हैं, और हमारी साहित्यिक-चेतना अपनी परम्परागत सीमाओंको तोड़कर देश-विदेशके जिन नये क्षितिजोंको छूकर समृद्ध होती जा रही है, उसे देखते हुए सृजनके साथ-साथ समीक्षात्मक वृत्तिका इस तरह जाग उठना और क्रियाशील हो जाना स्वाभाविक ही है।

किन्तु इसका एक दूसरा पहलू भी है जिसकी ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जा रहा है। साहित्यके विकासमें इस प्रकारके महत्वपूर्ण मोड़पर उसकी उपेक्षा करना कहीं अत्यन्त घातक न सिद्ध हो, इसका गम्भीर खतरा है। हिन्दीकी आलोचना क्रियाशील अवश्य है किन्तु अपनी समकालीन परिस्थितियोंकी सापेक्षतामें उसने अपने गम्भीर दायित्वको भी पहचाना है, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। किसी भी साहित्यके स्वस्थ और सर्वांगीण विकासमें समीक्षात्मक वृत्ति—चाहे वह कितनी भी क्रियाशील क्यों न हो—तब तक सहायक नहीं होती जब तक कि उसका उचित

निर्देशन करनेके लिए एक व्यापक, उदार, सर्वांगीण, वस्तुपरक और वैज्ञानिक समीक्षा दृष्टि विकसित नहीं होती। उस संयमित और सन्तुलित दृष्टिके अभावमे यह सारा समीक्षात्मक अभियान लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता है, नये सृजनमे सहायक न होकर उसे कुण्ठित कर डालता है, पुरानी परम्पराओंको नये रूपोंमे विकसित न करके उनके प्रति गलत दृष्टिकोण बना लेता है, इतिहासकी विकृत व्याख्याएँ करने लगता है, साहित्य और जन-जीवनके सही सम्बन्ध-सूत्रोंको दृढ़ करके उन्हें विच्छिन्न और जर्जर कर डालता है। परिणाम यह होता है कि युक्तियुक्त वैज्ञानिकता तत्त्व नष्ट होते हैं और साहित्यिक वातावरणमे आतंक, कटुता, दलगत पूर्वग्रह, अराजकता और संकीर्णता छा जाती है, गलत मानदण्ड प्रतिष्ठित हो जाते हैं और उनसे अनुशासित साहित्य कुण्ठित, बौना, जर्जर, क्षणिक और खोखला बन जाता है। अपने वास्तविक उत्तरदायित्वको न पहचानकर, समीक्षक भी सन्तुलन खो बैठता है और या तो वह पुरानी रूढ़ियोंके घेरेमे आश्रय खोजनेकी चेष्टा करता है, या आवेशमे राजनीतिक 'कमिसार'का अभिनय करने लगता है, या केवल शिल्प और शैलीकी पच्चीकारीके ह्लासोन्मुख वातावरणमे अपनेको भुलावा देना चाहता है। वास्तवमे उसके ये तीनों ही रूप अपने विराट् दायित्वको समग्रतासे स्वीकार न कर पानेके अनिवार्य परिणाम हैं। इनसे ग्रस्त समीक्षा न केवल स्वतः पथ-भ्रष्ट हो जाती है, वरन् उससे प्रभावित और निर्देशित प्रतिभाएँ भी मरु-मरीचिकाओंमे भटककर समाप्त हो जाती हैं। और—अब वह समय आ गया है जब हमे साहस और ईमानदारीसे यह स्वीकार करना चाहिए कि हिन्दी समीक्षा समवेत रूपसे अभीतक अपने विराट् दायित्वको आत्मसात् नहीं कर पाई है और यदि छायावाद-कालसे लेकर आजतक, हमारे प्रमुख कलाकारों और साहित्यिक निकायों (Schools) की अपनी अभिरुचिमें थोड़ा-बहुत परिष्कार न होता और अपने विश्वासोंका बल न होता तो आधुनिक हिन्दी साहित्य और भी अधिक निर्धन होता, उसकी सर्जनात्मक प्रवृत्तियाँ और

भी कुण्ठित हो गई होतीं, उसकी भावभूमिमें और भी अधिक विकृतियाँ आ गई होतीं ।

हिन्दी-समीक्षा इतनी बौनी और कुण्ठित क्यों रह गई, इसका कारण यह मालूम होता है कि किसी भी जाति या समाजके सांस्कृतिक जीवनकी चिरविकासशील प्रगतिमें साहित्यका सही मूल्य क्या होता है, उसकी शक्ति के मूलाधार क्या होते हैं, उसका अपना विकास किस सीमातक जातिके आर्थिक या राजनीतिक विकासके समानान्तर होता है, वह किस सीमातक अपने पृथक् नियमोंसे परिचालित होता है, साहित्यकार व्यक्तिके रूपमें कैसे सामाजिक प्रभावोंको ग्रहण करता है, रचनाकारके रूपमें किन मानसिक प्रक्रियाओंसे होकर गुजरता है, अपनी परम्परासे उसका क्या सम्बन्ध होता है, कलाकारके रूपमें उसके द्वारा विकीर्ण सामाजिक प्रभावकी कौन सी विशिष्टताएँ होती हैं, आजतक सांस्कृतिक इतिहासमें कौन से मानवीय मूल्य ऐसे हैं जो अपेक्षाकृत स्थायी और चिरमर्मस्पर्शी हैं और सामयिक समस्याओंके सामयिक समाधानोंकी सापेक्षतामें उनका क्या महत्त्व है । इन समस्त प्रश्नोंपर या तो हिन्दी-समीक्षकने विचार करनेकी आवश्यकता नहीं समझी, या उसने इनके विषयमें कुछ एकांगी, अधूरी और अपरिपक्व मान्यताओंको ही समीक्षाके वैज्ञानिक मानदण्ड समझनेकी भूल कर डाली । एक वाक्यमें यह कहा जा सकता है कि हिन्दीकी समीक्षाका 'कैनवस' उसके दायित्वको देखते हुए बहुत छोटा रहा है । उस 'कैनवस' के विस्तारकी ओर संकेत करना अत्यन्त आवश्यक है ।

कोई भी साहित्यिक कृति या धारा अपनेमें निरपेक्ष, निस्संग, असम्पृक्त कृति या धारा नहीं होती । उसके पीछे एक लम्बी काव्य-परम्परा होती है । वह काव्य-परम्परा किसी विशेष जाति या समाजके बहुमुखी सांस्कृतिक कृतित्वका एक अंग-मात्र होती है । उसके पीछे उस जातिके सुख-दुःख, संघर्ष और समन्वय, चिन्तन और अनुभूतिके सैकड़ों और हज़ारों

वर्षके इतिहासकी संचित परम्परा रहती है। वह क्षण, जिसमें वह कृति रची गई, उस लम्बे इतिहासकी ही एक सम्बद्ध कड़ी है और वह कलाकार उसी समूहकी एक इकाई है, फिर भी किसी विशिष्ट अनुभूति-प्रक्रिया और रचना-प्रणालीके बलपर सृजनका वह क्षण समस्त परम्परागत इतिहाससे अधिक सजीव और मर्मस्पर्शी बन जाता है। कलाकारमें एक विशिष्टता है जिसके बलपर वह काल-प्रवाहके उस एक बिन्दुको शब्दोंमें बाँधकर युग-युगके लिए स्थायी कर देता है। उस क्षणमें उसके द्वारा अनुभूत भाव-सत्य केवल उसका और उस क्षणका ही न रहकर साधारणीकृत और स्थायी भी हो जाता है। इस समस्त प्रक्रियाको ध्यानमें रखते हुए किसी भी कृतिके मूल्यांकनमें तीन तत्त्वोंपर विचार करना अनिवार्य है। ये तीन तत्त्व अलग नहीं हैं, न इनपर एक-दूसरेसे पृथक् रूपमें विचार हो सकता है। ये तीनों समीक्षाके तीन आयाम (dimensions) हैं और किसी भी एकके बिना शेष दो निरर्थक हैं। एक कला-कृति पहले रूपमें एक संचित शास्त्रीय परम्परा, जातीय सौन्दर्य-बोध और परम्परागत काव्य-शृङ्खलाकी विशिष्ट कड़ी होती है। दूसरे रूपमें वह एक विशिष्ट समाज-व्यवस्थाकी सांस्कृतिक निधि होती है और उसका एक विशिष्ट मूल्य होता है। तीसरे रूपमें वह एक व्यक्तिकी, एक विशिष्ट क्षणकी अनुभूतिकी शब्दात्मक अभिव्यक्ति होती है और कुछ विशिष्ट तत्त्वोंसे समन्वित होकर वह कला-कृतिका महत्त्व प्राप्त करती है। किसी भी कला-कृति या प्रवृत्तिका मूल्यांकन करते समय यदि इनमेंसे एक भी पक्षकी उपेक्षा की गई तो वह समीक्षा एकांगी बन जाती है।

दुर्भाग्यसे हिन्दी-समीक्षाके क्षेत्रमें यह भूल बार-बार हुई है और यही नहीं वरन् बहुधा यह भी देखा गया है कि आलोचकोंके दिलोंने इस एकांगिताको ही अपनी विशिष्टताके रूपमें प्रचारित किया और अज्ञानवश अपने एकांगी मार्गके अतिरिक्त अन्य सभी मार्गोंका सक्रिय विरोध किया। एक ओर वे लोग रहे जिन्होंने परम्पराके नामपर, शास्त्रीयताके नामपर उन रूढ़ियोंका समर्थन किया जिनका सारा अर्थ जीवन्त सांस्कृतिक

परम्पराकी सापेक्षतामें नष्ट हो चुका था, जिन्हें किसी भी प्रकारके प्रगतिशील और वैज्ञानिक दृष्टिकोणको प्रश्रय देना स्वीकार नहीं था। दूसरी ओर ऐसे भी लोग रहे जिन्होंने प्रगतिशीलता और वैज्ञानिक समाजवादके नामपर दलगत राजनीति एवं नितान्त अवैज्ञानिक पद्धतियोंका प्रचार किया। तीसरी ओर ऐसे भी लोग रहे जो साहित्यके विराट् सांस्कृतिक 'कैनवस' और महत्वपूर्ण सामाजिक स्थितिको पूर्णतया भूलकर केवल उसकी वैयक्तिक स्थिति, रचना-प्रक्रिया, शिल्प और सौन्दर्य-बोधका अन्वेषण करते रहे। तीनोंका ही सत्य आंशिक था, अतः एक विराट् समग्रतामें समन्वित न होने के कारण वह विकलांग और हानिकर ही सिद्ध हुआ।

सबसे पहले परम्पराकी बात उठाई जाय। परम्पराकी बात इसलिए भी हिन्दीके प्रसंगमें अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि बहुत कम ऐसी भाषाएँ हैं जिनके पीछे इतनी लम्बी, इतनी समृद्ध और इतनी जटिल परम्परा हो जितनी कि हमारी भाषाके पीछे है। हम चाहे विरोध करें या समर्थन, चाहे संरक्षण ग्रहण करें या निर्वासन; किन्तु हर मोड़पर हमारी परम्परा ने हमारी गतिको एक निश्चित रुख दिया है, हम उससे मुक्त नहीं हो पाये हैं और न वैज्ञानिक दृष्टिसे कोई भी अपनी परम्परा और जातीय संस्कारोंसे मुक्त हो सकता है। किन्तु दुर्भाग्य यह था कि रीति कालने आधुनिक कालको शास्त्रीय परम्पराके नामपर जो दृष्टिकोण दिया था वह स्वतः अत्यन्त एकांगी और संकीर्ण था। वह काव्य-शास्त्र संस्कृत-काव्य-शास्त्रका अपरिपक्व हिन्दी उल्था-मात्र था। संस्कृत उस समय जन-भाषा न थी। न जाने कितनी शताब्दियोंसे संस्कृत केवल पण्डितवर्गकी भाषा रह गई थी और लोक-व्यवहारसे जो नित्य नये संस्कार किसी भी साहित्य-परम्पराको मिलते हैं, संस्कृत उनसे वंचित हो गई थी। अपभ्रंश और उसके बाद स्वयम्भूसे लेकर तुलसी तक हिन्दीको जो प्राणवान् लोक-स्पर्श मिला था, जितनी धाराएँ और परम्पराएँ उसमें सम्मिलित हो गई थीं

चन्द, कबीर, मीरा, जायसी, सूर और नन्ददासने जितने स्तरोंकी अनुभूतियोंसे हिन्दी काव्य-धाराको समृद्ध कर दिया था उनका समाहार उस काव्य-शास्त्रमें नहीं हो पाया जो रीतिकालके आचार्य कवियों द्वारा अपनाया गया। वह हिन्दीका तो प्रतिनिधि काव्य-शास्त्र था ही नहीं, संस्कृतमें भी मध्यकालमें विभिन्न धर्म-साधनाओंने काव्य-शास्त्रमे जो नवीन उद्भावनाएँ की थी—जैसे तन्त्र निर्देशित भाषाकी मन्त्र-शक्ति, वैष्णवों द्वारा अनुमोदित 'महाभाव' 'समाधि-भाषा' आदि—उनका भी कोई विचार उस काव्य-शास्त्रमें नहीं था। वह संस्कृत-काव्य-शास्त्रकी कुछ विशेष परम्पराओंका ही सीमित प्रतिनिधि था। आधुनिक युगके साथ जब सहसा एक नई सांस्कृतिक चेतनाका उदय हुआ और नये काव्य-रूप और नये ढंगकी कृतियाँ सम्मुख आई तब उस काव्य-शास्त्रकी कमी सहसा अनुभव होने लगी और वे मानदण्ड यथेष्ट सिद्ध होने लगे। शास्त्री विद्वानोंका एक वर्ग तो ऐसा भी रहा कि परम्पराके मोहमे उसने खड़ी बोलीकी तमाम नई साहित्यिक प्रवृत्तियोंका ही अन्धविरोध न किया प्रत्युत अपने चिन्तन-विकासके समस्त द्वार ही बन्द कर लिये। आज ऐसे लोगोंकी संख्या उँगलियोंपर ही गिनी जाने लायक बच रही है, किन्तु किसी समय उनसे साहित्यकी विकासशील धाराको कितना कठोर संघर्ष मोल लेना पड़ा था यह 'पल्लव' की भूमिकासे आज भी अनुमान किया जा सकता है। किन्तु; एक वर्ग आलोचकोंका ऐसा भी था जिसने युग-धर्मका स्वागत किया और पाश्चात्य समीक्षाशास्त्रको यथोचित सम्मान दिया और नये साहित्यके आकलनके लिए नयी कसौटियाँ स्वीकार कीं। कहीं-कहीं उन्होंने नये वैज्ञानिक सिद्धान्तोंकी कसौटीपर शास्त्रीय परम्पराको कसकर खरा दिखानेका भी प्रयास किया। इस प्रकार अपनी परम्पराओंसे उन्मूलित हुए बिना उन्होंने जिस सीमा तक नई चेतनाओंको प्रश्रय दिया, वहाँ तक आज भी आचार्य शुक्ल अद्वितीय और अपराजेय हैं। उनकी सीमाएँ वहीं हैं जहाँ उन्होंने शास्त्रकी गतिशील विकासमान प्रकृतिको मान्यता नहीं दी। स्वस्थ

और जीवनदायी समझौता या समन्वय सदैव दो जीवन्त और विकासशील परम्पराओंमें होता है। यदि उनमें-से एक भी परम्पराका विकास अवरुद्ध हो चुका है, वह पथरा चुकी है और बिना पुनर्मूल्यांकनके उसे यथावत् स्वीकार कर लिया जाता है, तो वह दूसरी जीवन्त परम्पराको भी कुण्ठित और अवरुद्ध कर डालती है। आचार्य शुक्लके अद्वितीय व्यक्तित्वके प्रति सम्पूर्ण समादर रखते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि इसी कारण उनकी दृष्टि कई स्थलोंपर संकुचित रह गई थी और वे अपने समकालीन कई आन्दोलनोंको वह सहानुभूति नहीं दे पाये थे जिसकी उनसे अपेक्षा की जाती थी। फिर भी जिस स्तरपर उन्होंने हिन्दी-समीक्षाको छोड़ा था और प्रथम इतिहास प्रस्तुत करके परम्पराके ऐतिहासिक मूल्यांकनका जो सूत्रपात किया था उसको उनके परवर्ती समीक्षक आशाके अनुरूप नहीं बढ़ा पाये।

“परम्पराका ऐतिहासिक मूल्यांकन”, इसीलिए आवश्यक था कि हम परम्पराको जीवित रख सकें, उसे अपना सम्बल बना सकें। वह ऐसी उर्वर भूमि बनी रहे जिससे हमारे चिन्तनकी जड़ें अधिक-से-अधिक खुराक पा सकें। हिन्दी-समीक्षाके क्षेत्रमें मार्क्सवादी चिन्तन-धाराके प्रवेशके साथ इस बातकी सम्भावना दीख पड़ी कि यह चिन्तन-प्रणाली इस विराट् कार्यको पूरा करेगी, किन्तु; प्रारम्भसे ही इस निकायका दृष्टिकोण इतना एकांगी रहा कि कम-से-कम इनके हाथोंसे शास्त्रीय परम्पराके पुनर्मूल्यांकनकी आशा जाती रही। यही नहीं, बल्कि वर्ग-संघर्ष और जनवादी सांस्कृतिक परम्पराके जटिल रूपको समझे बिना इन्होंने समस्त प्राचीन संस्कृतिको सामन्तवादी संस्कृति करार देकर उससे विच्छिन्न हो जानेका भी नारा लगाया। यह नारा न केवल अवैज्ञानिक था, वरन् मार्क्सवादकी भी एक गलत व्याख्या थी। तत्कालीन स्थितिने उनके मनमें बहुत-सी ऐसी मध्यम-वर्गीय कुण्ठाओं और पूर्वग्रहोंको उभार दिया था और वह खुद एक ऐसे बूर्जुआ अहंकारसे ग्रस्त थे जिनके कारण उनके मनके समाज-विरोधी ग्रह

प्रबल थे और शेष सामाजिक जीवनसे वे लोग विच्छिन्न और उन्मूलित हो चुके थे। इसलिए जब उन्होंने सांस्कृतिक परम्पराके विरुद्ध आवाज उठाई तो वह वास्तवमें उनकी एक स्वतः मनोविकृतिकी अभिव्यक्ति थी, मार्क्सवाद तो केवल बाह्य आवरण था। किन्तु इससे जिस सीमा तक मार्क्सवादने एक ऐतिहासिक दृष्टि प्रदान की थी उसका महत्त्व कम नहीं होता। अगर हिन्दीमें भी यह दृष्टि स्वस्थ रीतिसे विकसित होती चलती तो आज हमारी समीक्षा अपेक्षाकृत कहीं अधिक सम्पन्न होती।

किन्तु, एक दूसरी दिशासे भारतीय ऐतिहासिक परम्पराका पुनर्मूल्यांकन प्रारम्भ हुआ था और उसके लोक-तत्त्वोंको समुचित प्रश्रय मिल रहा था। वह था गाँधीके नेतृत्वमें चलनेवाला भारतीय पुनर्जागरणका आन्दोलन और उससे प्रभावित गुरुदेव द्वारा स्थापित शान्तिनिकेतन। शान्तिनिकेतनमें भारतीय तथा विदेशी विद्वानोंका एक बहुत बड़ा दल मध्यकालीन भारतीय संस्कृतिके लोकपरक तत्त्वोंके संग्रह और संरक्षणमें लग गया था। सन्तों और बाउलोंकी वाणियाँ, अजन्ताकी कला, मणिपुरके लोक-नृत्य, सन्थालोंका लोक-जीवन और मध्यकालीन अगणित धर्म-साधनाएँ (जो भारतीय जनान्दोलनोंके धार्मिक रूपान्तर-मात्र थे) इन सबका एक नवीन मूल्यांकन प्रारम्भ हुआ और जो अवशिष्ट परम्पराएँ जन-जीवनमें बच रही थीं उनका पुनरुत्थान करके अपने समस्त अतीतको वर्तमानके जीवन्त क्षणोंमें प्रतिफलित करनेका एक महत्त्वपूर्ण प्रयास बहुत बड़े स्तरपर हुआ। बहुत दिनों तक हिन्दी इस दृष्टिकोणसे वंचित रही, किन्तु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की महत्त्वपूर्ण पुस्तिका 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' में जब हिन्दीको अपनी इस परम्पराके नये सामाजिक मूल्यांकनकी एक छोटी-सी झलक मिली तो अपने वैभव और अपनी समृद्ध विरासतपर वह स्वतः स्तब्ध हो गई। उसमें तथा उनकी अन्य कृतियोंमें अपनाया गया दृष्टिकोण प्राचीनतम और नवीनतमका अद्भुत सम्मिश्रण था, उसकी सामाजिक दृष्टि यान्त्रिक, अवैज्ञानिक

और ऊपरसे थोपी हुई नहीं थी, वह दृष्टि अपनी परम्परासे नये वैज्ञानिक आधारोंपर विकसित हुई थी। उसमे कबीरसे लेकर रवीन्द्र तककी व्यापक मानवतावादी दृष्टिका संचित संस्कार था। वह अध्ययन-परम्परा उस गतिसे आगे न बढ़ पाई जैसी कि बढ़नी चाहिए थी, यही नहीं वरन् आगे चलकर वह दृष्टि धूमिल पड़ने लगी और उसका यथोचित विकास नहीं हो पाया।

वर्तमानका प्रश्न आते ही साहित्यके दूसरे पक्षपर विचार करना अनिवार्य हो जाता है जिसमे साहित्य वर्तमान समाज-व्यवस्थाका एक सांस्कृतिक अंग होता है, वह उस व्यवस्थासे प्रभावित होता और उसे प्रभावित करता है। समाज द्वारा मान्य नैतिक धारणाओंकी कसौटीपर साहित्यको कसनेका प्रयास नया नहीं है और न साहित्यसे सामाजिक समस्याओंके समाधान माँगनेका ही प्रयास नया है। भारतीय परम्पराओंमे “शिवेतरक्षतये” कहकर उसकी इस स्थितिको ओर संकेत किया गया है और ग्रीक परम्परामे तो कविकी सामाजिक स्थितिपर समीक्षकोमे गहरा मतभेद रहा है। पश्चिममे मध्यकालीन ईसाई-मठ साहित्यके सामाजिक प्रभावके प्रति सदैव जागरूक रहे हैं। मार्क्सवादकी मौलिकता यह नहीं है कि उसने साहित्यके सामाजिक महत्त्वको पहचाना, उसकी मौलिकता यह है कि साहित्यको उसने अपने राजनीतिक संघर्ष और क्रान्ति-दर्शनमें एक महत्त्वपूर्ण प्रचार-शास्त्रका स्थान दिया और उसके समर्थनमे यह सिद्ध करनेका प्रयास किया कि प्रत्येक युगका साहित्य किसी-न-किसी विशेष वर्गके प्रचारका साधन रहा है। साहित्यकी सामाजिक स्थितिके प्रति यह एक अतिवादी दृष्टिकोण है जिसके निराकरणकी कई भावभूमियाँ मार्क्स और एंजेलससे लेकर गोर्की तकके लेखनमें मिलती हैं, लेकिन बादमें कुत्सित समाजशास्त्रियों और दलगत स्वार्थोंके लिए साहित्यका राजनीतिक दुरुपयोग करनेवालोंने इस अतिवादी दृष्टिकोणको विकृतिकी सीमाओं तक पहुँचा दिया। यह अतिवाद केवल मार्क्सवादी शिविरमें ही हो ऐसी बात

नहीं है—मध्यकालमें जिन धर्मान्ध विजेताओंने नालन्दाके विशाल पुस्तकालय और कलात्मक वैष्णव-मन्दिरोंको कुप्र करार देकर जला दिया या तोड़ दिया, जिन कैथोलिक पादरियोंने ग्राहमग्रीनके उपन्यासोंको पापपूर्ण माननेका आन्दोलन चलाया, जिन नाज़ियोंने आइन्स्टीनको देश-निकाला दिया, जिन राजनीतिक 'कमिसारों' ने 'डास्टावस्की' के साहित्यके पठन-पाठनपर प्रतिबन्ध लगाया, और जिन शुद्धतावादियोंने सूरके साहित्यको कामुक और अनैतिक करार दिया, वे सभी एक ही अतिवादिताके शिकार रहे हैं, वह अतिवादिता, जो अपने एकांगी और संकीर्ण दृष्टिकोणके कारण साहित्यके सामाजिक उपयोगकी सूक्ष्मताको ठीक-ठीक नहीं समझ पाती। ऐसे लोग साहित्य द्वारा समाजका हित चाहते हैं लेकिन अज्ञानपूर्ण और अवैज्ञानिक ढंगसे।

इस सम्बन्धमें यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि साहित्यकी महत्ता और सामाजिक उपयोगिता इसीमें है कि वह हमारी चेतनामें बहुत गहरे उतर कर हमारी वृत्तियोंका संस्कार करता है, उन्हें एक उदात्त सामाजिकता प्रदान करता है। वह चाहे किसी भी संकीर्ण मतवादका प्रचार करे या न करे, वह किसी भी तात्कालिक समस्याका स्पष्ट समाधान दे या न दे, किन्तु यदि उसमें यह शक्ति है कि वह हमारी वृत्तियोंको मस्कृत बनाता है तो वह साहित्य कल्याणकारी है। टालस्टायकी राजनीति क्या थी, शेक्सपियरने अपने समयके किसी दंगेमें किसका पक्ष लिया था, और टी० एस० ईलियट किम ईसाई-मम्प्रदायका अनुयायी है—यदि पाठक यह नहीं जानता फिर भी इनका साहित्य उसके हृदयको छूता है, उसकी वृत्तियोंको परिष्कृत करता है, उसके सौन्दर्य-बोधको जाग्रत करता है, उसके व्यक्तित्वको सामाजिक बनाता है, उसमें मानवीय मूल्योंकी प्रतिष्ठा करता है, उसकी दायित्व-भावनाको सचेत करता है—संक्षेपमें यदि वह उसे जीवन-प्रक्रियाके प्रति उद्बुद्ध करता है, और समाजकी अधिक सुसंस्कृत इकाई भी बनाता

है तो उसने अपना दायित्व पूरा किया है। बाह्य घटनाओंकी अपेक्षा साहित्यकारका ध्यान सामाजिक व्यवस्था द्वारा उद्भूत जटिल रागात्मक स्थितियों और उनसे उत्पन्न होनेवाली विषमताओं, विकृतियों तथा असन्तुलनपर केन्द्रित रहता है और वह उन्हींका परिहार एवं परिष्कार करता है। कभी वह उसके लिए तात्कालिक नाम, स्थिति और पृष्ठभूमि ग्रहण करता है, कभी वह उसीको पौराणिक और काल्पनिक देश-काल और पात्रोंके माध्यमसे अभिव्यक्त करता है, कभी वह उसके लिए अप्रस्तुत प्रतीकों और संकेतोंका आश्रय लेता है। साहित्यकार अपने स्तरपर, अपने ढंगसे संस्कृतिकी विराट् प्रक्रियामें योग देता है। रसानुभूति और सौन्दर्य-बोध उसके माध्यम है; और युग, काल एवं स्थितियोंके अनुसार जैसी भी जटिलताएँ होती हैं, वैसी ही सूक्ष्म तथा अप्रत्यक्ष रीतिसे वह अपना कार्य करता है।

यह तो हुई समग्र रूपमें साहित्यिकके सामाजिक देयकी बात। वैयक्तिक दृष्टिसे भी उसकी कई विलक्षणताएँ होती हैं। प्रत्येक साहित्यकारकी समीक्षा-दृष्टि भी उतनी ही पंनी हो यह आवश्यक नहीं। बहुत-से कलाकार ऐसे हैं जो अनजाने ही इस संस्कृति-निर्माणमें अपना देय देते रहते हैं, जब कि वे प्रत्यक्ष रूपसे कलाकी सामाजिक उपयोगिताको न तो स्वीकार ही करते हैं और न अपनेको उसका अनुगामी मानते हैं। इसके विपरीत ऐसे भी साहित्यकार हैं जो प्रत्यक्ष रूपसे किसी विशेष मतवादके अनुयायी हैं, किन्तु उनके साहित्यमें उनकी घोषित नीतिके सर्वथा विरुद्ध प्रवृत्तियाँ झलकती हैं। पुनश्च अधिकांश साहित्यकारोंमें दोनों प्रवृत्तियाँ साथ-साथ रहती हैं, उनका अनुपात चाहे जो भी हो। और बहुतसे कलाकार ऐसे भी होते हैं जिनके घोषित विचार अत्यन्त कल्याणकारी होते हैं। अपनी कलामें वे उन्हींको प्रतिष्ठित भी करते हैं, किन्तु कहीं-न-कहीं रसानुभूति और सौन्दर्य-बोधका आश्रय उनसे छूट जाता है। इसका परिणाम यह

होता है कि उनकी कला जन-मनमें गहरी उतरकर वृत्तियोंको संस्कार नहीं प्रदान कर पाती और इसी प्रकार दूसरे ढंगसे वह निष्फल सिद्ध होती है ।

समीक्षकको किसी भी कृतिकी सामाजिक उपादेयताका मूल्यांकन करते समय इन जटिल सूक्ष्मताओंका पूरा ध्यान रखना चाहिए, अन्यथा कुछ सतही, एकांगी और हानिकर दृष्टिकोण उभर आते हैं; जो उसे एक भ्रम-पूर्ण स्थितिमें डाल देते हैं । संस्कृति केवल धार्मिक कट्टरता, राजनीतिक अवसरवादिता और सतही नैतिकतासे अधिक व्यापक है, उसका केन्द्र-विन्दु मनुष्यका समग्र अस्तित्व है; जो कहीं अधिक गहन और बहुमुखी है । संस्कृति और समाज-व्यवस्थाके तात्कालिक और दीर्घसूत्री सम्बन्धोंके विषयमें मार्क्सके बादके समाजशास्त्रियोंने मानव-शास्त्र (Anthropology) और मनोविज्ञान आदि अन्य कितनी ही वैज्ञानिक पद्धतियोंका आश्रय ग्रहण करके इन जटिलताओंका विश्लेषण करनेका प्रयास किया है । यदि अपनी विचार-पद्धतिमें समीक्षक इस नये ज्ञान-क्षेत्रके प्रति जागरूक नहीं रहता तो वह अनजाने ही एकांगिकताका शिकार हो जाता है । सामाजिक उपयोगितापर निर्णय देते समय उसे बहुत गहरे पैठनेकी आवश्यकता होती है । यह एक खतरनाक किन्तु आकर्षक अस्त्र है और समय-समयपर धर्म, वर्ग तथा राजनीतिक दल समीक्षाके इस अंगका दुरुपयोग करते आये हैं और आज भी कर रहे हैं । निस्संदेह कलाकार और समीक्षक दोनों पक्षधर (Partisan) होते हैं किन्तु सांस्कृतिक स्तरपर पक्षधरताका वही रूप नहीं रह जाता जो राजनीतिक स्तरपर रहता है । सेल्डेन राडमनने एक स्थानपर कहा है : “अगर किसीके लिए भी संघर्षसे असम्पृक्त रहना आवश्यक है तो कलाकारके लिए । अगर किसीके लिए भी संघर्षमें डूबना आवश्यक है तो कलाकारके लिए । उसको पक्ष भी ग्रहण करना चाहिए और फिर भी अपने आधे हृदयकी सारी सहानुभूति शत्रुके लिए सुरक्षित रखनी चाहिए ।” क्रान्तिके दिनोंमें युद्ध, शान्ति और

सामाजिक न्यायकी विशाल समस्याओंके सामने वैयक्तिक नैतिक समस्याएँ और जीवन-प्रवृत्तियाँ बिलकुल तिनकेके समान लगने लगती हैं—लेकिन कविता यदि कविता बनी रहना चाहती है तो उसे इन सामूहिक समस्याओंका आकलन, इन छोटे केन्द्र-बिन्दुओंसे उद्भूत भावनात्मक प्रतिक्रियाओंके आधारपर—दूसरे शब्दोंमें पार्टीकी नीतिके बजाय मानवीय मूल्योंके आधारपर करना चाहिए।” आज संसारकी जो स्थिति है (और हिन्दी-भाषी प्रदेश उससे अलग नहीं है !) उसमें इन समस्त जटिलताओंमें मानवीय मूल्योंके आधारपर कलाको आधुनिक संदर्भमें समझनेकी आवश्यकता और भी प्रखर है ।

मानवीय मूल्योंके सन्दर्भमें यदि हम साहित्यको नहीं समझते तो अक्सर हम ऐसी झूठी प्रतिमान योजनाको प्रश्रय देने लगते हैं कि समस्त साहित्यिक अभियान गलत दिशाओंमें मुड़ जाता है । चाहे हम परम्पराका मूल्यांकन कर रहे हों, चाहे सामाजिक उपादेयताकी माप कर रहे हों, यदि हम उसके मानवीय आधारसे स्खलित होते हैं तो हम साहित्यके मर्मको तो नहीं ही पा सकते, और यदि वह साहित्यके मर्मको नहीं पा सकता तो समीक्षक चाहे पाठानुसंधानसे लेकर वर्ग-विश्लेषण तककी ‘तथा-कथित वैज्ञानिक’ भूलभुलैयाँमें भटके, पर वह साहित्यके बाह्यको ही टटोल कर रह जाता है । एकेडेमिक (शास्त्रीय या हिन्दीके सन्दर्भमें ‘परीक्षोपयोगी’) समीक्षासे लेकर मार्क्सिय समीक्षा तककी यही असफलता रही है ।

सृजन-प्रक्रियाका मानवीय धरातल

कभी-कभी ऐसा लगता है कि साहित्यके मूल्यांकनके ये झूठे प्रतिमान इसलिए अपनाये जाते हैं कि हम साहित्यकी अन्तःप्रेरणाकी वास्तविक मानवीय प्रकृतिको समझनेमें भूल करते हैं। या तो हम अन्तःप्रेरणा और सृजन-प्रक्रियाके प्रश्नकी उपेक्षा कर जाते हैं या उस प्रेरणाको मानवीय धरातलकी वस्तु न समझकर उसे कभी दैवी रहस्य-चेतन, कभी अन्य सामाजिक शक्तियोंकी प्रतिच्छाया, कभी अचेतन शक्तियोंकी निष्प्रयोजन क्रीड़ा मानकर उसके विषयमें भ्रान्त धारणाओंको प्रश्रय देते रहते हैं। इसलिए सबसे पहली आवश्यकता है सृजन-प्रक्रियाकी वास्तविक प्रकृतिको समझना। कलाकृति, चाहे वह शब्दोंमें हो या संगीतात्मक ध्वनियोंमें, चाहे रंगों और रेखाओंमें हो या स्थापनमें.....किन्तु उससे कलाकारके अन्तर्जगत्-का निकटतम सम्बन्ध रहता है। प्रत्येक कविता, या चित्र, या गीतका उद्गम कलाकारके मानससे होता है—इसमें कोई सन्देह नहीं है। वे, जो कलाको या तो दैवी शक्तियों या सामाजिक शक्तियों द्वारा उद्भूत मानते रहे हैं, वे भी इतना तो मानते ही हैं कि ये शक्तियाँ भी मनुष्यके अन्तर्जगत्में संस्कार या अवतरण, या अन्य किसी रूपमें पहले प्रतिष्ठित होती हैं और तभी आपकी सृजन-प्रक्रियाको प्रभावित कर पाती हैं और कलाकारके अन्तर्जगत्में घटित होनेवाली इस सृजन-प्रक्रियाका मूल अन्तःप्रेरणा है। जब तक कलाकारमें अन्तःप्रेरणा नहीं जागती तब तक वह सजीव कला-कृति नहीं प्रस्तुत कर पाता।

इस अन्तःप्रेरणाका मूल स्रोत और प्रकृति इतनी जटिल और गूढ़ है कि आदिकालसे अधिकांश विचारक इसके विश्लेषणसे बचते ही आये हैं।

आदिकाल और मध्यकालमें समस्त कला, समीक्षा अन्ततोगत्वा इस अन्तः-प्रेरणाको मानवोपरि दैवी स्तरोंसे सम्बद्ध कर देती थी। सरस्वती या कोई भी अन्य बुद्धि या कलाका देवता मनुष्योंके हृदयमें अपनी एक किरण प्रेरणाके रूपसे उद्भासित कर देता है और उस समय सृजनकर्ता कलाकार मात्र माध्यम रह जाता है, शैवोंकी यह कल्पना कि समस्त शब्द और ध्वनियाँ अन्ततोगत्वा शिवके डमरूसे उत्पन्न हुई हैं, तान्त्रिकोंकी यह कल्पना कि समस्त अक्षर बीजाक्षर हैं, और दैवी शक्तियोंसे सम्पन्न हैं, वैष्णवोंकी यह कल्पना कि प्रभुकी लीलाका गायन करनेवाला प्रत्येक कवि किसी-न-किसी अंशमें उनकी वशीका अवतार है जिसमें फूँक या अन्तःप्रेरणा दैवी शक्तिसे जाग्रत होती है... यहाँ तक कि जयदेवका अधूरा श्लोक स्वतः कृष्ण आकर पूरा कर देते हैं... ये सारी कल्पनाएँ इसी एक मूल तत्त्वपर आधारित हैं कि कलाकृतिकी प्रबलतम अन्तःप्रेरणा जो अधिकतर मनुष्यकी सचेतन मानसिक शक्तियों या वातावरणका अतिक्रमण कर जाती है... उसका ठीक-ठीक निदान मध्यकालीन चिन्तक मानवीय मनोविज्ञानमें नहीं खोज पाते हैं। वर्तमान युगमें किसी-न-किसी रूपमें यह विचारधारा वर्तमान है। अरविन्दने अपने एक पत्रमें कहा है... “कवि उच्चतम या सर्वाधिक मुक्त क्षणोंमें, अपने बाह्य सचेत मानस द्वारा नहीं लिखता, वरन् अन्तः-प्रेरणासे देवताओंके प्रवक्ताकी भाँति लिखता है।”

दैवी प्रेरणाकी बात सर्वमान्य नहीं है, किन्तु इतना तो स्वतः कलाकारोंकी साक्षीसे ज्ञात है कि उनकी अन्तःप्रेरणा मनके सचेत स्तरोंकी अपेक्षा उसके अवचेतन या अर्द्धचेतन स्तरोंपर जाग्रत होती है। अक्सर वे अपने व्यावहारिक दैनिक जीवनके किसी अत्यन्त शुष्क नीरस व्यापारमें संलग्न रहते हैं पर उनके मनके गहन स्तरोंमें कुछ और ही घटित होता रहता है, और जब उसका विस्फोट होता है तब उनका सचेत मानस विवश हो जाता है, उसके हाथसे जैसे भाव-प्रक्रियाके सूत्र छूट जाते हैं और जैसे

स्वतःप्रेरित कलाकृति उनकी समस्त कल्पना, बुद्धि, ज्ञानको सहायक उपादान बनाकर अपनेको अभिव्यक्त कर डालती है और उस समय कलाकारका बाह्य व्यक्तित्व इतना विवश हो जाता है कि जैसा डी. एच. लारेन्सने अपनी कृतियोंके बारेमें कहा.....‘घटनाओंकी तरह कृति भी घटित हो जाती है और मैं खड़ा देखता रह जाता हूँ ।’

वर्तमानकालमें जो विशिष्ट विचारधाराएँ विकसित हुई, जिन्होंने कलाकी प्रकृतिको व्यापक पृष्ठभूमिमें समझनेका प्रयास किया और जिनसे आधुनिक कला-समीक्षा सबसे अधिक प्रभावित हुई उनमें मार्क्सवाद और फ्रायडका मनोविश्लेषण सिद्धान्त सर्वप्रमुख हैं । मार्क्सने कलाकारकी समाज सापेक्ष स्थितिका और कलाकृतिकी सामाजिक उपयोगितापर अधिक ध्यान दिया और अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके आधारपर इस ओर विशेष सकेत किया कि वह सृजन सामाजिक शक्तियोंसे प्रभावित होता है । किन्तु अन्ततोगत्वा वह सृजन व्यक्तिके द्वारा होता है, उसके जटिल, गहन, अनेक स्तरोंवाले अन्तर्जगत्से उद्भूत होता है.....यदि वह व्यक्ति और उसका वह जटिल अन्तर्जगत् न हो तो मृष्टिके आदिसे लेकर आज तककी समस्त सामाजिक शक्तियाँ और राजसत्ताएँ महान् कविताकी एक भी पंक्ति, या एक भी सप्राण या सजीव चित्र नहीं रच सकती थीं । समस्त मार्क्सिय कला-समीक्षाका विकास इसी कारण एकागी होता गया और कलाकारकी अन्तःप्रेरणा और उसकी जटिल प्रकृति न समझ पानेके कारण उसके निर्णय अधिकतर मिथ्या या सतही सिद्ध होते रहे । काडवेल एकमात्र ऐसा समीक्षक था जिसने काव्य-सृजनकी प्रकृतिको गहराईसे समझनेका प्रयास किया और उस दिशामें जब केवल सामाजिक शक्तियाँ अन्तःप्रेरणाकी व्याख्या नहीं कर पाईं तब उसे नैसर्गिक प्रवृत्तियों या Instincts के सिद्धान्तका आश्रय लेना पड़ा । आज मार्क्सिय शिविरमें ही काडवेलके सिद्धान्तोंको इसी कारण मार्क्स-विरोधी कहा जाने लगा है और मारिस्

कार्नफोर्थके नेतृत्वमें नये ब्रिटिश मार्क्सवादी विचारकोंने काडवेलकी तीव्रतम आलोचना की है। वे मानते हैं कि काडवेल फ्रायडका विरोध करते-करते उसीके सिद्धान्तोंको संशोधित रूपमें अपना लेता है।

जहाँ तक फ्रायडका प्रश्न है कला सृजनके सम्बन्धमें उसकी मान्यताएँ भी एकांगी सिद्ध हो चुकी हैं। उसने यह माना था कि मनुष्यका अवचेतन जगत् उसकी दमित इच्छाओंका सुरक्षित कोष है जहाँसे वे अज्ञात रूपमें, छिपकर मनुष्यके समस्त व्यवहारोंको, उसके सृजनको प्रभावित करती हैं। उसने अपने उसी सिद्धान्तपर मनुष्यके स्वप्नोंकी नई व्याख्या देनेका प्रयास किया और कविता या चित्रको मनुष्यकी स्वप्न-प्रवृत्तिका ही एक प्रक्षेपण माना। साथ ही उसने अन्तर्जगत्में दमित आकांक्षाओंके कारण बनी हुई ग्रन्थियोंसे कलाकारकी अन्तःप्रेरणाका सम्बन्ध जोड़ा और कल्पना-शक्तिके द्वारा अन्तर्जगत् किस प्रकार भावनाओंकी अभिव्यक्ति ऐसे नये प्रतीकों द्वारा करता है जो मूल दमित वासनाओंसे सम्बद्ध रूपाकृतियोंको व्यजित भी करते हैं और छिपाते भी हैं इसका एक विस्तृत विवेचन भी प्रस्तुत किया। किन्तु उसने मूलतया लेखक या कलाकारको एक रुग्ण मानसवाला व्यक्तित्व माना और अपने चिकित्सालयमें आनेवाले अन्य रोगियोंकी भाँति उनका भी विश्लेषण किया। निःसन्देह यह एक कलारसिकका दृष्टिकोण नहीं था। इसी कारण उस विश्लेषणमें भी कलाकी अन्तःप्रेरणाकी व्याख्या कई दिशाओंमें वैसी ही एकांगी हो गई जैसी मार्क्सकी व्याख्या। फ्रायड यह भूल गया कि रुग्ण मानववाला एक कलाकार भी कला-सृजनके क्षणोंमें एक दूसरा व्यक्ति हो जाता है। वैसे फ्रायडको भी अक्सर यह आभास होता रहा है कि अन्तःप्रेरणा और उसके स्रोतके विषयमें उसका सिद्धान्त कभी-कभी महानतम कलाकृतियोंके विश्लेषणमें पूर्णतया सफल नहीं सिद्ध हुआ है। डास्टावस्कीपर लिखे गये अपने निबन्धमें उसने इसे स्वीकार भी किया है।

आधुनिक मनस्तत्त्ववेत्ता सी० जी० युंगने फ्रायडके इस सिद्धान्तकी असंगतिका तर्कपूर्ण विवेचन किया है। उनका यह कथन है कि फ्रायडकी सारी स्थापनाएँ कलाकारके व्यक्तित्वपर लागू हो सकती हैं किन्तु उसका कलाव्यक्तित्व सर्वथा वही नहीं होता। साथ ही फ्रायडकी मनोविश्लेषण पद्धति व्यक्तिके मनस्तत्त्वपर लागू हो सकती है किन्तु जो कलाकृति उससे उद्भूत होती है वह अपनेमें एक स्वतन्त्र वस्तु होती है... युंग यह भी मानता है कि उस कलाकृतिकी सफलता और महत्ता ही इसपर आधारित होती है कि वह कृति कहाँ तक अपने सृजनकर्तामें निजी जीवनकी सीमाओं और परिधियोंका अतिक्रमण कर गई है। ऐसी दशामें वह कलाकारके द्विविध रूप मानता है एकमें वह एक साधारण मनुष्य होता है जिसके निजी सुख-दुख, कुंठाएँ, आकांक्षाएँ हो सकती हैं, दूसरे रूपमें वह एक निर्व्यक्तिक रचना-प्रक्रियाका विधायक मात्र होता है। युंगका यह मत कतिपय भारतीय सिद्धान्तोंके कितना निकट आ जाता है, इसकी विवेचना अत्यन्त रोचक हो सकती है। युंग तो कलाके इस स्तरपर निर्व्यक्तिकताका इतना प्रबल समर्थक है कि वह कहता है... “कलाका सृजन करने-वाला कोई ऐसा व्यक्ति नहीं होता जो अपनी इच्छानुसार कलाका उपयोग अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए करता है, बल्कि वह कलाके आशयोंका साक्षात्कार अपने माध्यमसे होने देता है।”

आप यह पूछ सकते हैं कि क्या आप तर्क करते-करते एक गोल चक्करमें नहीं घूम गये। शायद यह बात सच है। हमने प्रारम्भमें ही माना कि अन्तःप्रेरणा कलाकारके सचेतन व्यक्तित्वके वशमें नहीं है, पर वह दैवी शक्तिसे उद्भूत है यह एक अवैज्ञानिक मत है पर मानवीय मनो-विज्ञानके शास्त्रज्ञ भी अन्ततोगत्वा इसी मतपर पहुँचते हैं कि यह कलाकी अन्तःप्रेरणा उसके निजी वैयक्तिक सचेत भाव प्रक्रियाकी सीमाके बाहरकी वस्तु है। तो प्रश्न फिर उठता है कि क्या वह किसी मानवोपरि दैवी

शक्ति या रहस्यमय अज्ञात प्रक्रियाका अंग है”””इस विषयमें मैं एक अत्यन्त प्रख्यात आधुनिक फ्रांसीसी कलाकार जाँ काक्ट्यो (Jean Cacteau) का एक वक्तव्य देना चाहूँगा”””वह कहता है”””

“कभी-कभी लोग कलाकी अन्तःप्रेरणाके बारेमें सर्वथा भ्रान्त धारणा बना लेते हैं लगभग धार्मिक विश्वासोंकी-सी । किन्तु मैं यह नहीं मानता कि कलाकी अन्तःप्रेरणा हमें आकाशसे मिलती है । मैं समझता हूँ कि हममे एक उपेक्षा या असमर्थताकी भावना होती है जिसके कारण हम अपने अन्तर्जगत्की कुछ शक्तियोंको उपयोगमें नहीं ला पाते । ये अज्ञात शक्तियाँ, हमारे दैनिक जीवनके तत्त्वों, उसके परिवेश और संवेगोंसे संयुक्त होकर अन्तस्तलके गहन स्तरोंमें कार्य करती हैं और हम उनके भारसे आक्रान्त हो उठते हैं और तब वे हमे अपनी निष्क्रियताकी मनः-स्थितिको जीतनेके लिए विवश करती हैं”””अर्थात् हमारे जाने बिना जब उन शक्तियोंके कारण कलाकृति हमारे अन्तर्जगत्में बन जाती है और प्रकट होनेके लिए हमसे माध्यम माँगने लगती है”””तब हम विश्वास करने लगते हैं कि यह कलाकृति किसी अज्ञात लोकसे अवतरित हुई है ।”

यहाँपर जाँ काक्ट्यो एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कहता है जिसे ध्यानमें रखना अत्यन्त आवश्यक है”””

“किन्तु यही वह क्षण है जब कलाकारकी सचेतन भावनाको उसकी अवचेतनाको पीछे छोड़कर, कलासृजनके सूत्र अपने श्रुथमें ले लेने चाहिए । वह कलाकृति जो अभी रूप नहीं ले पाई है जो साकार होना चाहती है उसे आकार देकर दूसरे तक प्रेषणीय बनाना”””इसका साधन कलाकार अनिवार्यतः ढूँढ़ता है ।” मेरा विचार है कि अन्तःप्रेरणा और शिल्प-चेतनाका इस पूरी प्रक्रियामे क्या स्थान है इसका अत्यन्त मार्मिक विवेचन इस कथनमें हमें मिलता है ।

सृजन-प्रक्रियामें अन्तःप्रेरणाके किसी दिव्य मानवोपरि आधारका निषेधकर हम निस्सन्देह साहित्य-चिन्तनको एक मानवीय धरातलपर

प्रतिष्ठित करनेका औचित्य सिद्ध करते हैं। वे साहित्यिक सिद्धान्त जो साहित्यको केवल आर्थिक या राजनीतिक शक्तियों द्वारा उद्भूत मानते हैं उनका भी खण्डन इससे होता है क्योंकि बिना एक व्यक्ति-कृतिकारके जो अन्तःप्रेरणासे रचना करता है, अगणित सामाजिक या आर्थिक या राजनीतिक शक्तियाँ स्वतः मिलकर, शताब्दियों तक प्रयास करके भी काव्य की चार सजीव मार्मिक पक्तियोंकी रचना नहीं कर सकतीं।



उपन्यास और आत्मान्वेषण

कविता और नाटककी अपेक्षा उपन्यास नवीनतर साहित्य-रूप है। पिछले तीन-चार सौ वर्षोंमें इसने समस्त विश्व-साहित्यमें अपनेको जिस प्रकार स्थापित किया उससे आतंकित होकर यह आशका अक्सर व्यक्त की जाती रही है कि इसके आच्छादनमें कविता और नाटकका विकास अवरुद्ध हो जायगा। यद्यपि इस प्रकारकी अतिरजित आशंकाएँ बार-बार भ्रान्त सिद्ध होती रही हैं, किन्तु उनमें सत्यका इतना अंश अवश्य है कि कविता और नाटक दोनोंकी अपेक्षा मानव-जीवनके चित्रणके लिए उपन्यासका क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है। गीति-काव्योंके पुञ्जीभूत भावसत्य, दुःखान्त नाटकोंके चिरन्तन सघर्ष और करुणा, गीति-कथाओंकी गति और प्रवह-मानता, मुक्तकोंका उक्ति-वैचित्र्य और नीति-सत्य—इन सभी पुराने साहित्य-रूपोंकी शिल्पगत और वस्तुगत विशेषताओंको उपन्यासने अपने व्यापक प्रसारमें ग्रहण किया था। यह सम्भावना प्रतिभासित हो रही थी कि इस साहित्य-रूपमें प्रथम बार मनुष्य अपने समस्त आयामों और समग्र परिवेशके साथ अवतरित हो सकेगा; उसके समस्त उलझे हुए सूत्र, फँसे हुए सीमान्त और गति तथा प्रसारके अतिरिक्त गहराईके आयामका चित्रण करके उपन्यास मानव-जीवनके सर्वांग-सम्पूर्ण प्रतिफलनमें कविता और नाटक आदि सभी पुराने साहित्य-रूपोंमें-से सर्वाधिक सफलता प्राप्त करेगा।

इस आशका मूल कारण यह भी था कि अपने विकास-कालमें ही उपन्यासने मानव-जीवनके एक ऐसे मर्म सूत्रको पकड़ा था जिसमें उसका सारा वैयक्तिक अस्तित्व, सामाजिक जीवन और सांस्कृतिक विकास

अन्तर्ग्रथित था। वह थी मनुष्यको आत्मान्वेषी वृत्ति, जिसकी आरम्भ-रेखा थी जिजीविषा और परिणति थी आत्मोपलब्धि। मनुष्यमें जीवन धारण करनेकी सामर्थ्य है। समस्त प्रतिरोधोंके बावजूद वह जीवित रहना चाहता है, परम्परा और परिस्थितिकी पृष्ठभूमिमें उसकी वह अदम्य जिजीविषा सक्रिय रूपमें प्रतिफलित होती है। किन्तु यह प्रक्रिया निरर्थक या यान्त्रिक नहीं है, वह सार्थक है और लक्ष्ययुक्त है। उसका लक्ष्य है अपने अस्तित्व और चेतनाके ऊपरी पतोंके नीचे बहुत गहरेमें निहित अपने वास्तविक भावको खोजना, खोजकर अपनी अगणित बाह्य प्रक्रियाओं, आचरणों और सामाजिक सम्बन्धोंमें उससे तादात्म्य स्थापित करना, और अपने समस्त जीवनव्यापारमें निरन्तर यह प्रयास करना कि आत्मोपलब्धिके इस सत्यका एक अंश, जिसपर उसकी खोज, उसकी विजय, उसकी महत्ताकी छाप है; ऐसा एक अंश वह किसी-न-किसी रूपमें प्रवहमान सामाजिक जीवनको दे जाय। इसीलिए उपन्यासमें चित्रित मानव निरपेक्ष स्थितिमें चित्रित नहीं किया जाता, अपने समग्र परिवेशमें, वातावरण, परम्परा तथा परिस्थिति की पृष्ठभूमिमें चित्रित होता है; किन्तु यह आत्मोपलब्धिकी प्रक्रिया ही मानवपात्रोंको सजीव और सार्थक बनाती है। अपनी वैयक्तिक सत्ताको अक्षुण्ण रखते हुए अपने बाह्य सम्बन्धों और सामाजिक आचरणोंमें (चाहे वे आचरण प्रणयाकांक्षासे प्रेरित हों, नैतिक निष्ठासे प्रेरित हों या राजनीतिक आदर्शोंसे प्रेरित हों) औपन्यासिक पात्र अगर आत्मान्वेषण कर पाता है या उस ओर उन्मुख होता है, तभी वह सजीव पात्र बन पाता है, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा हो पाती है अन्यथा उस औपन्यासिक कृतिमें कितना ही विस्तृत और तथ्यपूर्ण विवरण हो, बौद्धिक ऊहापोह हो, रहस्यपूर्ण रोमांचक कथा-शिल्प हो, किन्तु उसका मानवीय पक्ष निष्प्राण और निर्जीव रहता है और वह उच्चकोटिका उपन्यास नहीं कहा जा सकता।

मनुष्यका अपनी परिस्थितियोंसे सम्बन्ध, मनुष्य और मनुष्यका रागात्मक अथवा सामाजिक सम्बन्ध, मनुष्यका निरपेक्ष सत्य, मर्यादा, मूल्य या

किसी अरूप भावात्मक अथवा आदर्शात्मक सत्तासे सम्बन्ध, इन सम्बन्धों की विविधता और इनका वैचित्र्य तथा इन सबके जटिल प्रभावसे निर्मित होनेवाला मानव-व्यक्तित्व अपनी असंख्य विविधताओंमें अपरिमित सम्भावनाओंको छिपाये रहता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी जीवन-प्रणालीमें, अपने आत्मान्वेषणमें दूसरेसे बिल्कुल पृथक् रहता है और कथाकारका मुख्य कार्य यही है कि वह चित्रणमें उसकी उस वैयक्तिकताको उभार सके तथा वह अपने ढंगसे कैसे अपनी विशिष्ट जीवन-पद्धतिमें अपने-आपको उपलब्ध करता चल रहा है इसको पूरी सहानुभूतिसे दिखला सके। महान्तम कथा-कृतियोंमें आत्मोपलब्धिके इसी तत्त्वको उसके विविध रूपोंमें प्रस्तुत किया गया है। टालस्टायके 'वार एण्ड पीस' में एक विराट् कैनवसपर कितने ही चरित्र आते हैं जो अपनी जीवन-प्रक्रियामें आत्मान्वेषणमें तल्लीन हैं। उसमें विभिन्न आर्थिक वर्गके लोग हैं, विभिन्न आयु-स्तरके लोग हैं, विभिन्न सम्प्रदाय, विभिन्न राजनीतिक मत, विभिन्न पेशे और विभिन्न परिस्थितियोंके लोग हैं; यही नहीं वरन् एक ही व्यक्ति अपने जीवनकी विभिन्न घड़ियोंमें विभिन्न स्तरोंपर आत्मान्वेषण करता है और विभिन्न रीतियोंसे अपने-आपको पाता और खोता चलता है। एक सोमाहीन प्रसार है, जिसमें जितने प्रकारके पात्र हैं उतने ही प्रकारकी पद्धतियाँ और प्रणालियाँ हैं और उन सबके बीच 'आत्मोपलब्धि' का तथ्य उनको वैयक्तिकता, सजीवता और सार्थकता प्रदान करता है। इससे थोड़े पृथक् डास्टावस्कीके उपन्यास हैं, जिनमें इसी प्रक्रियाको इसके बहुविध प्रसारमें न दिखाकर उसकी गहनता और जटिलतामें दिखाया गया है। विक्टर ह्यूगोसे लेकर रोमा रोलाँतक जिन कथाकारोंने ऐसी महान् कथा-कृतियाँ प्रस्तुत की हैं जिन्हें महाकाव्योंके समक्ष रक्खा जा सकता है, उनमें वह सूक्ष्म दृष्टि और व्यापक सहानुभूति रही है जिससे वे प्रत्येक पात्रकी वैयक्तिक आत्मोपलब्धिको प्रस्तुत कर सके और उनमें एक सूत्रबद्धता तथा समरसता भी खोज सके।

किन्तु १९ वीं शताब्दीका अन्त होते-होते इन महान् उपन्यासोंकी परम्परा भी समाप्त होती हुई दीख पड़ती है। रोमा रोलाँका 'जाँ क्रिस्ताफ़' शायद इस परम्पराकी अन्तिम कृति कहा जा सकता है। इसके बाद हम व्यापक तौरपर उपन्यासोंमें चित्रित मानव-पक्षको कई प्रकारसे ह्लासोन्मुख पाते हैं। कहीं उसके वैविध्य और विस्तारमें कमी हो गई है, कहीं उसमें गहराईकी कमी है और केवल सतही तौरपर मनुष्यका चित्रण होने लगा है, कहीं गहन वस्तु-तत्त्वके अभावमें केवल शिल्प-चमत्कारपर आग्रह है और कहीं मानव-पक्षको निर्जीव और निष्प्राण छोड़कर उपन्यासको किसी विशेष जैविक, मनोविज्ञानिक, राजनीतिक या धार्मिक मतवादोंका वाहन बनानेकी चेष्टाएँ मिलती हैं। उपन्यासकार अपने पात्रोंके आत्मान्वेषणको न चित्रित करके अपने लबादे उन्हें पहनानेकी कोशिश करता है और अपनी पगडण्डियोंपर उन्हें मोड़नेका प्रयास करता है। अपने संकीर्ण सिद्धान्तोंके आधारपर उनका एकागी निरूपण तथा विश्लेषण करता है। परिणामस्वरूप उसके उपन्यासोंमें चित्रित मानव-जीवन कृत्रिम और सतही होता जाता है, पात्रोंका व्यक्तित्व और निजत्व समाप्त होता जाता है। पिछली अर्द्ध-शताब्दीमें विश्व-उपन्यासमें निस्सन्देह मानव-तत्त्वका विघटन हुआ है।

२

इस विघटनकी प्रकृतिको समझनेके लिए उन चिन्तन-धाराओं और प्रवृत्तियोंको समझना आवश्यक है जिनका व्यापक प्रभाव समकालीन उपन्यासोंपर पड़ा है। इनमेंसे सबसे पहली धारा उस यथार्थवादकी है जिसका उदय रोमाण्टिसिज़्मकी प्रक्रियाके रूपमें हुआ और जिसको जोलाने अपने उपन्यासोंमें प्रथम बार पूर्ण रूपमें प्रतिष्ठित किया। जोलाके यथार्थ-वादको बादमें प्रकृतवाद (नैचुरलिज़्म) की संज्ञा दी गई। इस धाराके अन्तर्गत मानव-अस्तित्वको प्राकृतिक व्यवस्थासे पृथक् न करके इस प्रकार

चित्रित किया गया जैसे वह भी उस विराट् प्राकृतिक जीवनमें पशु-पक्षियों-की ही श्रेणीका जीव है और मूलतः उसमें भी क्षुधा, काम, अहं तथा गिरोह बनानेकी प्रवृत्तियाँ हैं और उसका सारा आचरण उन्हींसे परिचालित है। इस धाराने उपन्यासोंमें चित्रित मानव-पक्षपर द्विविध प्रभाव डाले। जहाँ तक मानव-परिवेश, बाह्य परिस्थिति, परम्परा और पृष्ठ-भूमिका सम्बन्ध है, इस धाराने औपन्यासिक परम्पराको निस्सन्देह एक नया मोड़ दिया, किन्तु जहाँ तक इस विराट् मान-चित्रके केन्द्र-बिन्दु मनुष्यका सम्बन्ध है, उसने उसको सीमित और एकागी कर दिया, उसकी परम्परागत श्रेष्ठतासे वंचित करके उसको पशुधर्मी और विकृति-प्रधान जीव मान लिया।

आगे चलकर इस यथार्थवादी धाराकी दो प्रमुख शाखाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक धारा मनुष्यको व्यक्ति रूपमें परिकल्पित करके उसके उप-चेतन और अचेतन मनकी जटिल ग्रन्थियोंको सुलझानेमें तल्लीन हो गई और दूसरी धारा उसको समष्टिकी एक सामान्य इकाई मानकर उसके वर्गाश्रित स्वभावकी व्याख्या करती रही। ये दोनों धाराएँ उपन्यासके मानव-पक्षको बिलकुल निर्जीव कर डालनेमें पूर्णतया सफल हुई हैं। एकने मनुष्यको केवल अर्द्ध-विक्षिप्त, कामुक और विकृत रोगीकी स्थिति तक उतार दिया और दूसरीने मनुष्यकी वैयक्तिकता छीनकर उसे बने-बनाये साँचेमें ढालकर कठपुतलीमें परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार आत्मान्वेषणकी प्रवृत्तिको, जो उपन्यासोंके मानव-पक्षको बल देती रही, दोनों ओरसे कड़े आघात लगे। मनोवैज्ञानिक यथार्थवादियोंने आत्मोपलब्धिको तो स्थान दिया, पर एक ओर उन्होंने आत्मान्वेषणकी राह अत्यन्त सँकरी और जटिल बना दी और दूसरी ओर उन्होंने मनुष्यके आत्म-तत्त्वको पूर्वनिर्धारित, पशुधर्मी और अनिवार्यरूपेण विकृत मान लिया। डास्टावस्कीके उपन्यासोंका मनुष्य भी उपचेतनकी अँधेरी गलियोंमें भटकता है, किन्तु उसमें कहीं-न-कहीं दैवी अंशका साक्षात्कार करनेकी सामर्थ्य है, इसीलिए उसके

अस्तित्वमें एक आभास ऐसा भी है जिसके सम्मुख स्वतः फ्रायड अपनेको पराजित अनुभव करता है। किन्तु समकालीन, मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार मनुष्यके उस आयामको केवल एक भ्रान्ति (illusion) मानते हैं इसीलिए उपचेतन और अचेतनकी भूल-भुलैयामें भटकनेके बाद भी मानव-सत्ताका जो चित्र हमारे सम्मुख आता है वह पहाड़ खोदकर निकाले गये चूहेकी तरह ही निराशाजनक और उबानेवाला प्रतीत होता है।

दूसरी ओर सामाजिक यथार्थवादियोंने भी यह माननेसे इनकार किया कि मनुष्यकी जीवन-प्रक्रिया कई स्तरोंपर गतिमान रहती है और उसका अन्वेषण कई आयामोंमें होता रहता है। मनुष्य अपनेको केवल वर्ग-सघर्ष ही नहीं वरन् अन्य दिशाओंमें भी उपलब्ध करता है। उन्होंने मनुष्यके आत्मान्वेषणको केवल एक बूर्जुआ भ्रान्ति मानकर उसे इतिहासकी आवश्यकताकी पूर्तिका साधन-मात्र माना। फलस्वरूप उनके उपन्यासोंमें अवतरित होनेवाले पात्रोंकी कोई वैयक्तिक आत्मोपलब्धि नहीं रही, उनको पूर्व निर्धारित आकारके लबादे उड़ा दिये गये और उसके बाद वे इतिहासकी द्वन्द्वात्मक गतिके अनुसार होने लगे। वैयक्तिक आत्मान्वेषणके द्वारा सत्यकी उपलब्धिसे विमुख होकर कोई दूसरा लबादा ओढ़ लेना एक ऐसी स्थिति है जिसके करुण या हास्यास्पद परिणामोंकी ओर उपन्यासोंके उदय-कालमें ही सर्वेण्टीज़ने अपनी अमर कृति 'डॉन क्विक्जोट' में गहरी चेतावनी दी थी। विचित्र वीर डॉन क्विक्जोट अपनी सीमाओं तथा सामर्थ्य, दोनोंको भूलकर मध्यकालीन वीरोंका लबादा ओढ़कर पुरानी ढाल और जंग खाई हुई तलवार लेकर कल्पित दैत्योंसे लड़ने चल पड़ता है। राजकुमारीके नामपर एक भटियारिनको प्रेम करके और दैत्योंके नामपर हवाचक्कियोंसे सिर टकराकर लौट आता है। मनुष्यका आत्मान्वेषण आरोपित तो हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि अर्द्ध-राजनीतिक उपन्यासोंका यथार्थ मानवीय नहीं प्रतीत होता, हमको छू नहीं पाता।

यहींपर यह कह देना आवश्यक है कि यथार्थवादकी इन दोनों धाराओं-ने मानव-सत्यके कुछ ऐसे पक्षोंको अवश्य उद्घाटित किया है जो उसकी आत्मोपलब्धिको और भी सम्पन्न बना सकते थे, किन्तु इन धाराओंके अधिकांश लेखकोंने यह भुला दिया कि मनुष्य इन सभी चिन्तन-सम्प्रदायों और मतवादोंसे बड़ा है, उसकी जीवन-प्रक्रिया इतनी गहन, बहुमुखी और वभवशाली है कि वह किसी भी एक मतवाद द्वारा पूर्ण रूपसे बाँधी नहीं जा सकती। इसीलिए उपन्यासकारको, जो मानव-सत्यको उसकी समग्रता-में ग्रहण करना चाहता है, कलाकारकी दृष्टि अपनानी चाहिए; मनोवैज्ञानिक या राजनीतिक कमिस्सारकी दृष्टि नहीं। उस कला-दृष्टिमें एक ऐसी व्यापक सहानुभूति होती है जो किसी भी पात्रको अपने रगीन चश्मेसे नहीं देखना चाहती वरन् उसीकी परिस्थितियोंमें अपनेको रखकर उसीकी अनुभूतियाँ करके उसीके आत्मान्वेषणके दर्दमें डूबकर, उसकी आत्मोपलब्धिके सन्तोषमें तुष्ट होकर उसकी मानवीयताको उद्घाटित करती है। वह कला-दृष्टि मनुष्यकी चेतनाके विविध आयामोंमें, उसकी सत्ताके विभिन्न स्तरोंमें और उसकी अदम्य अपराजेयतामें पूर्ण विश्वास रखता है। कई स्थलोंपर हमें ऐसा दीख पड़ता है कि कई उपन्यासकारोंकी कथाकृतियोंमें अपने घोषित मत-वादों और सिद्धान्तोंके बावजूद अनायास ही व्यापक दृष्टिकोण, उदारता और सूक्ष्म मर्म-ग्राहिता उभर आई है जिसने मानवीय पक्षको अत्यन्त प्रबल कर दिया और उनके पात्रोंमें वही सजीवता और आत्म-बोध मिलता है जो उनके मतवादके अनुसार श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता। सोवियत रूसका गोरकी और चीनका लुहसूँ इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। गोरकी पीछे तुर्गनेव, डास्टावस्की और टाल्स्टायकी परम्परा थी और लुहसूँने अपनी कला-दृष्टिका गठन बालज़क, डिकेन्स और गोरकीसे ग्रहण किया था। मनोविश्लेषण-प्रधान उपन्यासोंमें कई स्थलोंपर व्यापक कला-दृष्टि उभर आती है और ऐसे स्थलोंपर उपन्यासोंका मानव-पक्ष सजीव हो उठता है। और उसकी एकरसता टूट जाती है।

पिछले बीस वर्षोंकी एक प्रमुख प्रवृत्ति यह रही है कि जिन क्षेत्रोंमें चिन्तन-स्वाधीनता है, उनमें धीरे-धीरे कथाकारोंने इन संकीर्ण मतवादोंसे मुक्त होकर व्यापक मानवतावादी भूमिपर अपनी कलाकी स्थापना की है। एक बड़ा समूह ऐसे लेखकोंका है जिन्होंने अपने लेखनका प्रारम्भ इन धाराओंके अन्तर्गत किया था किन्तु ज्यों-ज्यों वे जीवनको समझते गये त्यों-त्यों उन्होंने मनुष्यकी आत्मोपलब्धि, उसकी अपराजेयताको और उसकी श्रेष्ठताको स्वीकार किया। जान स्टीनबेक, आर्थर केस्लर और इगनातियो सिलोने स्पष्ट रूपमें घोषित कर चुके हैं कि अर्द्धराजनीतिक मतवादोंके बजाय मनुष्यकी आत्मोपलब्धि कथा-साहित्यका केन्द्रीय सत्य है। दूसरी ओर विलियम फाकनर, अर्न्स्ट हेमिंग्वे मनुष्यकी पशु-प्रवृत्तियोंका चित्रण करनेके बाद आज स्पष्ट रूपसे घोषित करते हैं कि निर्भिकता तथा साहस मनुष्यका वह शाश्वत सम्बल है जिसके द्वारा वह उच्चतर स्तरोंपर अपनेको विकसित करता है और परिस्थितियोंपर विजय पाता है।

इसी बीच दो और ऐसी धाराएँ उपन्यासोंमें प्रतिबिम्बित हुई हैं जिन्होंने मानवीय आत्मान्वेषणको बिलकुल नये स्तरपर स्थापित करनेका प्रयास किया है। एक है नास्तिक अस्तित्ववादी धारा और दूसरी आस्तिक मानवतावादी धारा; जिसमें कैथोलिकोंकी प्रधानता है। अस्तित्ववादी धाराके प्रमुख कथाकार अल्बर्ट कामू और जॉ पाल सार्त्र द्वितीय महायुद्धमें पराजित फ्रांसकी देन हैं। यद्यपि उनमें मार्क्सवादकी अन्ध-सामूहिकताके विरुद्ध काफ़ी तीखा विद्रोह है, किन्तु वह तीव्र संहारकारी अनास्थापर आधारित है और जिस संशय, त्रास और चिन्ताको अस्तित्ववाद मनुष्यके आत्मान्वेषणके मूलमें प्रतिष्ठित करता है, उसके कारण अस्तित्ववादी उपन्यासोंका मनुष्य अस्वस्थ, त्रस्त और भयभीत ही दीख पड़ता है, और उसको आत्मोपलब्धि झूठी और कृत्रिम-सी प्रतीत होती है। दूसरी धाराके उपन्यास परम्परागत ईसाई करुणा, भ्रातृत्व और

प्रेमके सिद्धान्तको नैतिकताका आधार मानकर चलते हैं और साथ ही मनुष्यको वे केवल कामार्त्त और क्षुधार्त्त ही न मानकर उसे दैवी स्तरोंसे युक्त मानते हैं और उसकी ऊर्ध्वमुखी गतिको भी प्रश्रय देते हैं। ऐसे उपन्यासकारोंमें मॉरियाक तथा ग्राहमग्रीन आदि कैथोलिक लेखकोंने मानवीय पक्षको अत्यन्त गहन स्तरोंपर चित्रित करनेमें सफलता पाई है। उन्होंने पुनः एक मनुष्यके आत्मान्वेषणको बहुत गहरे अर्थ दिये हैं। किन्तु जब वे मानवीय व्यापारोंमें किसी दैवी सत्ताका हस्तक्षेप स्वीकार करते हैं, दैवी अनुग्रहको समाविष्ट कराते हैं, तभी वे मानवीय पक्षको दुर्बल करने लगते हैं। ग्राहमग्रीनके अन्तिम उपन्यास 'एण्ड आफ द अफेयर' की तुलना 'पावर एण्ड ग्लोरी' या 'हार्ट आफ द मैटर' से करनेपर इसके प्रचुर प्रमाण मिल सकते हैं।

इस प्रकार हर क्षेत्रमें उपन्यासोंमें दृष्टिगोचर होने वाली मानवीय पक्षकी दुर्बलताका मूल कारण यही है कि मनुष्यके आत्मान्वेषणकी वृत्तिको सीमित, सतही, कुण्ठित या लक्ष्य-भ्रष्ट चित्रित किया गया है। यही कारण है कि आजका उपन्यास डास्टावस्की, विकटरहूगो या टालस्टायके उपन्यासोंकी भाँति शाश्वत मूल्योंकी स्थापना नहीं कर पाता। अमेरिकामें प्रतिवर्ष बेस्ट-सेलर लिखे जाते हैं। और पाँच वर्ष बाद उनको कोई याद नहीं रखता। रूससे हर साल स्टालिन पुरस्कार जीतने वाले उपन्यास आते हैं पर वे एक सुसंस्कृत अभिरुचि वाले पाठकको बचकाने लगते हैं। पूरे समकालीन उपन्यासका स्तर पिछली महान् कृतियोंकी तुलनामें असन्तोष जनक है।

३

इस प्रसंगमें समकालीन हिन्दी-उपन्यासकी स्थितिपर भी विचार कर लेना अनुचित न होगा। हिन्दी-उपन्यासके साहित्यिक स्तरका आरम्भ अगर प्रेमचन्दसे मानें तो हिन्दी-उपन्यास अभी अपनी किशोरावस्थामें ही है। विषय-वस्तु, कथा-शिल्प, भाषा सभी दृष्टियोंसे अंग्रेजी, फ्रांसीसी या

रूसी उपन्यासके आगे हिन्दी-उपन्यास अभी अपरिपक्व ही है, यह हमें ईमानदारीसे स्वीकार करना चाहिए। उनके उपन्यास-साहित्यके पीछे जितनी लम्बी पृष्ठभूमि है, जितनी श्रेष्ठ सफलताएँ हैं, बालजक, जोला, डिकेन्स, तुर्गनेव, डास्टावस्की, टाल्सटाय, रोमा रोलाँ—जैसी महान् प्रणिभाओंके अवशिष्ट प्रभाव हैं, उन सबके कारण अपने संकट-कालमें भी पाश्चात्य उपन्यास हिन्दी-उपन्याससे कहीं आगे हैं। इसीलिए कुछ लोगोंका आशय, जो पाश्चात्य उपन्यासकी ह्रासोन्मुखतापर विचार करनेके उपरान्त बिना कोई कारण दिये भारतीय उपन्यासकी वर्तमान या भावी श्रेष्ठताकी उद्घोषणा करने लगते हैं, समझमें नहीं आता। कम-से-कम वर्तमान स्थितिमें ऐसा अकारण अदम्य आशावाद असंगत-सा लगता है। किन्तु दूसरी ओर जो लोग इस स्थितिसे विक्षुब्ध हैं या पूर्णतः निराशाग्रस्त हैं, उनका दृष्टिकोण भी दूसरे अतिरेकका परिचायक है। हिन्दी-उपन्यासको इस बातका श्रेय तो देना ही होगा कि लगभग चालीस वर्षोंकी अवधिमें वह होड़ लगाकर आगे बढ़ा है और चार दशकोंमें उसने चार शताब्दियोंकी यात्रा पूरी करनेका प्रयास किया है। केवल इन चार दशकोंमें हिन्दी अपनी सीमाओं और परिधियोंके बावजूद अगर 'गोदान', 'गढ़ कुण्डार', 'चित्रलेखा', 'मुनीता', 'शेखर', 'संन्यासी' और 'बाणभट्टकी आत्मकथा'—जैसी कृतियाँ प्रस्तुत कर सकी है तो उसके प्रयास और उसकी सम्भावनाओंपर निराश होने या विक्षुब्ध होनेका कोई कारण नहीं दीख पड़ता, किन्तु आवश्यकता इस बातकी है कि उन अभावोंपर ध्यान दिया जाय जिनके कारण हिन्दी-उपन्यासकी प्रौढ़तापर सन्देह किया जाता है।

समकालीन हिन्दी-उपन्यासकार प्रायः यह भूल जाता है कि उपन्यास एक ऐसा साहित्य रूप है जो विकासशील रहा है, कई उपधाराओंमें विभाजित होकर प्रवाह पाता रहा है। शिल्पकी परिपक्वताके लिए आवश्यक है कि जिस माध्यमको उसने ग्रहण किया है उसकी सीमाओं और

सम्भावनाओं, दोनोंसे वह पूर्णतया परिचित रहे। मानवीय सत्यके प्रसार, गति और गहराईको बाँधनेके लिए पिछले महान् उपन्यासकारोंने जो विराट् शिल्प-रेखाएँ खींचीं थीं, वह उनसे बहुत कुछ सीख सकता है। हिन्दी-उपन्यासकार जब तक विश्व-उपन्यासकी महानतम सफलताओंका सुयोग्य उत्तराधिकारी नहीं बनता तब तक न तो वह उस परम्परामें अपनी कोई स्थिति ही बना सकता है और न उस परम्पराको आगे ही बढ़ा सकता है। हिन्दीमें विश्व-उपन्याससे अभीतक जो-कुछ लिया गया है उसका बहुत-कुछ अंश अनुकरण अथवा अपहरणके रूपमें ग्रहण किया गया है। किन्तु उन प्रणालियों और प्रवृत्तियोंको पचाकर अपने ढंगसे, अपनी सांस्कृतिक परम्परामें बँधो हुई अपनी जनताके मानवीय सत्यको, अपने पात्रोंकी आत्मोपलब्धिको हिन्दी-उपन्यासकार ठीक-ठीक अभिव्यक्ति दे पाया है, ऐसा कह सकना कठिन है। उस दिशामें प्रयास अवश्य हुए हैं किन्तु उन प्रयासोंमें कहींपर प्रसारकी कमी है, कहींपर गहनताकी। मानव-अस्तित्वकी उसकी पूर्णतम जटिलता, गहनता, रस-मयता, अपरा-जेयता और श्रेष्ठताके साथ अभी तक हिन्दी उपन्यासमें प्रस्तुत नहीं किया जा सका। हमारे उपन्यासोंका केन्द्र-मानव या तो स्वतः उपन्यासकारके रुग्ण अस्वस्थ मनका प्रक्षेपण-मात्र बन रहा है, या उसकी दलगत राजनीतिका अखबारी चित्र। मनुष्यको जब तक हम उसकी अन्तर्निहित सामर्थ्य, उसके जटिल परिवेश, उसकी जीवन-प्रक्रियाके विविध आयामोंके साथ हिन्दी-उपन्यासमें प्रतिष्ठित नहीं करते, उसके आत्मान्वेषणको पूर्ण प्रसार और उसकी आत्मोपलब्धिको पूरी गहराई तक उतरकर चित्रित नहीं करते तब तक हमारा उपन्यास प्रौढ़ नहीं हो सकता। इस प्रयासमें उपन्यासकारको यह तत्त्व भी भली भाँति हृदयंगम कर लेना चाहिए कि वैज्ञानिक, मनो-विश्लेषक, पत्रकार या राजनीतिक कमिस्सार इन सबका मार्ग उपन्यासकारका मार्ग नहीं है। मानवीय सत्यपर उसकी पकड़ इन सबसे गहरी होती है, उसकी सहानुभूतिका विस्तार इन सबसे अधिक है, उसके पात्रों-

की आत्मोपलब्धि एक मात्र कसौटी है जिसपर वह इन सब धातुओंको कस सकता है। साहित्यके अन्य रूपोंकी भाँति उपन्यासमे भी लेखकका रागात्मक बोध सबसे महत्त्वपूर्ण है। मनुष्यपर उसकी आस्था उसका सबसे बड़ा सम्बल है। पिछली शताब्दीके महान् उपन्यासोंने मनुष्यको एक जीवन-दृष्टि दी थी। आज भी उपन्यासकारको अपना वह दायित्व भली-भाँति पहचानकर उसे अपने ढंगसे पूरा करनेकी आवश्यकता है। जैसा कहा जा चुका है कि उसकी “पक्षधरता और संघर्ष-विवेकका स्तर बहुत गहरा है। उसे मानव-अस्तित्वके गहन परतोंमें उतरकर उसकी रक्त-शिराओंमें चलनेवाले भय और साहसके संघर्षमें भयको पराजित करना है, उसके छोटे-से-छोटे क्षणमें जीवन-प्रक्रियाको उद्बुद्ध करना है....इस संकट-कालके उखड़े-पुखड़े हुए, अर्द्ध ध्वस्त, प्लावनोत्तर सामाजिक ढाँचेमें हरेक भटके हुए व्यक्तिकी जीवन-प्रक्रियासे अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके उसके जीवनके क्षणोंको स्वतः जीकर उसके द्वारा की गई मूल्योंकी खोज और उनके विकासके मर्मको समझ लेना है और इस समस्त उपलब्धियोंको साहसपूर्वक मानव-इतिहासके एक नये और सबसे पूर्ण प्रांजल और प्रकाशमान युगकी ओर प्रेरित करना है।”



नयी कविता और दायित्वकी आन्तरिकता

पिछले दो-तीन वर्षों में हिन्दीकी नयी कविताको लेकर जितना वाद-विवाद हुआ है उससे इतना तो अवश्य सिद्ध हो गया कि यह आन्दोलन कविताके केवल नये रूप या नये शिल्प मात्रपर आधारित नहीं है, यदि वैसा होता तो न इसके समर्थकोंमें इतनी निष्ठा होती और न इसके विरोधियोंमें इतना आतंक। लेकिन नयी कविताके कवियोंको प्रगतिवादी और प्रयोगवादी शिविरोमें आसानीसे बाँट देनेवाले आलोचकोंने या तो किसी पूर्वग्रहके कारण या केवल वर्गीकरणकी सुविधाके लिए एक भ्रमात्मक धारणाका प्रचार अवश्य किया कि प्रयोगवादी कविता व्यक्तिगत कुण्ठा, विक्षुब्ध अहम् और अन्तर्मनकी दुरुह और अर्धविक्षिप्त चेतनाओंकी कविता है, और प्रगतिवादी कविता जनमानसकी और सामाजिक चेतनाकी कविता है। किन्तु नयी कविताके अन्तर्गत जो श्रेष्ठ प्रतिभाशाली कवि हैं (चाहे वे प्रगतिवादी माने जाते हों या प्रयोगवादी) उन्होंने जो महत्त्वपूर्ण रचनाएँ दी हैं वे आलोचकों द्वारा निर्दिष्ट वर्गीकरणमें नहीं आतीं। उनकी भाव-भूमि अलग ही है जिसपर नयी कविताके लगभग सभी कवि मिल जाते हैं।

इस बातकी ओर संकेत करना आरम्भमें ही, इसलिए आवश्यक था, कि नई कवितामें व्यक्तिवादी आग्रह या सामाजिक आग्रहका प्रश्न हिन्दीके आलोचकों द्वारा एक भ्रमात्मक ढंगसे उठाया जाता रहा है। वास्तवमें नयी कविता प्रथम बार समस्त जीवनका व्यक्ति या समाज, इस प्रकारके तंग विभाजनोंके आधारपर न माप कर मूल्योंकी सापेक्ष स्थितिमें व्यक्ति और समाज दोनोंको मापनेका प्रयास कर रही है। यदि हम उन गहन आन्त-

रिक मूल्योंको समझनेकी चेष्टा नहीं करते तो, हम नई कविताकी प्रकृति-को समझनेमें भूल कर सकते हैं। साहित्यमें व्यक्तिके विद्रोहके नामपर बहुत कुछ ऐसा आया है जो अन्ततोगत्वा समाजके लिए कल्याणकारी सिद्ध हुआ है और अक्सर सामाजिक कल्याणके नामपर भी बहुत कुछ ऐसा आता रहा है जो रूढ़ियोंका समर्थक, विकासका विरोधी, समाजके लिए अहितकर और जीवनके सर्वाङ्गीण विकासमें बाधक सिद्ध होता रहा है। नयी कवितामें व्यक्तिके पुनरन्वेषण, मानवकी पुनःप्रतिष्ठा तथा इस प्रकारकी जो अन्य स्थापनाएँ सुन पड़ती हैं, क्या वे समाजविरोधी हैं ? प्रश्न इस बातका है।

इसका उत्तर देनेके पूर्व यह पूछा जा सकता है कि समाजसे आपका क्या तात्पर्य ? और किस समाजका कल्याण करनेकी माँग आप कवितासे करते हैं ? और दूसरे यह कि उस कल्याणकी प्रणाली आप क्या मानते हैं ? समाजके राजनीतिक या व्यापारिक आंदोलनोंके लिए कवि छन्दबद्ध घोषणा-पत्र या प्रचारात्मक वक्तव्य तैयार करे, इसको तो नयी कविता अस्वीकार कर चुकी है। पर फिर भी नयी कविता राजनीतिक समस्याओं-को उठाती है.....उनमें कहीं-कहीं उद्बोधनका स्वर भी मिलता है, कहीं-कहीं तारोंका स्तर भी उभरने लगता है। पर एक बात जरूर है कि साम-यिक समस्याओंपर लिखे जानेपर भी, जो उनमेंसे सचमुच अच्छी कविताएँ हैं उनका स्वर या शुद्ध दलगत राजनीतिक कविताओंके स्वरसे पृथक् है।

इस पृथक्ताका विश्लेषण करनेके पहले एक प्रश्न और पूछा जा सकता है कि क्या यह नयी कविता एक गौण स्वर नहीं है, क्या उसका प्रमुख स्वर व्यक्तिके विक्षोभका स्वर नहीं है ? यह प्रश्न हमें समस्याके मर्म तक पहुँचा देता है।

वास्तवमें नयी कविताकी जो प्रमुख भावभूमि है उसमें मुख्य प्रश्न है सर्वाङ्गीण मानवीय विघटनका मुकाबला करनेका। वह

सर्वाङ्गीण विघटन सर्वथा दूसरे पैरायेकी समस्या है जिसके सामने व्यक्ति और समाजके अन्तर्विरोधका प्रश्न उतना तीखा नहीं है जितना यह प्रश्न है कि वे मूल्य कैसे पुनः स्थापित किये जायें जो व्यक्तिको इतना कायर और दुर्बल बननेसे रोकें कि वह अपने सामाजिक दायित्वसे पलायन कर आत्मरतिमें ही लीन रहे, या सामाजिक कल्याणके नामपर आने वाले किसी भी अधिनायकवादी आतकके सम्मुख समर्पण कर दे। कोई भी विकासशील समाज नीतिवान्, दायित्वयुक्त, स्वतन्त्र-चेता व्यक्तियोंका संगठन होता है। इसीलिए नयी कविता उन मूल्योंके पुनरन्वेषण और पुनःस्थापनाके लिए अग्रसर होती है। नयी कविता मनुष्यकी 'आन्तरिकता' को फिरसे प्रतिष्ठित करना चाहती है, उसके असामंजस्यको दूर करना चाहती है। चाहे अवचेतनकी अन्धबर्बर पशु प्रवृत्तियाँ उसके आन्तरिक सन्तुलनको बिगाड़ रही हों और चाहे बाह्यारोपित जनसकुल सामूहिकता उसे कुण्ठित कर रही हों, यदि इनमेसे कोई भी अतिप्रबल है तो हम नये कविके राग बोधको विक्षुब्ध पाते हैं।

मनुष्यकी इस 'आन्तरिकता' का सामाजिक महत्त्व क्या है, इसे समझ लेना आवश्यक है। पिछली दो शताब्दियोंमें विज्ञान और भौतिक साधनोंकी जितनी उन्नति हुई है और उससे पूर्व और पश्चिममे संस्कृतियोंका जो विकास हुआ है उसके विषयमें कलाकारों, दार्शनिकों, और सन्तोंके सारे स्वप्न खण्डित हो चुके हैं। उन्होंने यह देखा कि भौतिक विकास करनेपर भी मनुष्यमें प्रबल नैतिक निष्ठा नहीं विकसित हो पाई, वह पिछड़ा रह गया और धीरे-धीरे वह बिखरने-सा लगा। यह बिखराव आधुनिक युगकी समस्या थी और सबसे पहले आधुनिक कलाकारों, कवियों, लेखकों और चिन्तकोंने इसे अनुभव किया। यह नया यथार्थ था जिसे मध्ययुगीन परम्पराओंसे आक्रान्त रूमानी काव्य-दृष्टि ग्रहण कर सकनेमे असमर्थ थी। आधुनिक काव्य-दृष्टिने इस नये यथार्थको ग्रहण करनेका आग्रह किया।

इसमें सन्देह नहीं कि इस संक्रान्ति-कालमें बहुतसे कवि ऐसे थे जिन्होंने इस बिखरावको संयमित करनेमें सफलता नहीं पाई या मनोविश्लेषण, या मार्क्सवाद इसी प्रकारके उन अन्य एकांगी मतवादोंमें कविताको उन्होंने बाँध दिया जो स्वयं इसी बिखरावकी उपज थे। लेकिन जिन कवियोंका रागबोध अप्रतिहत रहा और जिनमें मानवीय मूल्योंके प्रति निष्ठा रही, वे बराबर इस बिखरावको पराजित कर मानवीयताको पुनः प्रतिष्ठित करनेके प्रति आग्रहशील रहे।

मानवीयताकी पुनःप्रतिष्ठाके लिए नये कविने व्यक्तिको अनिवार्य माना है। व्यक्तिका विनाश या उसको वस्तु या यन्त्र बनानेके प्रयासोंको वह मानव समाजके लिए घातक मानता है। वाल्ट्व्हिटमैनने song of the myself में जो कहा था, अति आधुनिक सन्दर्भमें वही लुई मैकनीसने prayer of the unborn child में कहा है, प्रभाकर माचवेने अपने एक नव-प्रकाशित सानेटमें पूछा है—‘सबको समतल करने वाले डालोगे क्या मुझपर डाका?’ श्याममोहनने लिखा है ‘मिट जानेके प्रथम मरणकी गोद वरूँगा’, गिरजाकुमार माथुरने ‘खत’ शीर्षक कवितामें लिखा है— ‘‘नहीं स्वीकार उनको क्रैद, नियमन कूट, अनुशासन, पक्तिचालन, फालइन, सर्वेश्वर दयालने ‘सरकंडेकी गाड़ी’में इसी पंक्तिचालन, अनुशासनपर तीखा व्यंग्य किया है। नयी कविताका प्रमुख स्वर आज मानवकी मुक्तिका स्वर है।

किन्तु यह मानवकी मुक्ति दायित्वहीनता नहीं है। हो भी नहीं सकती। क्योंकि नयी कविताके पीछे केवल शिल्पाग्रह नहीं है, जीवनआग्रह है। उस दायित्वको ग्रहण करनेकी चेतना, उसके प्रति अपनेको अर्पित करनेकी आस्था लगभग उन सभी कवियोंमें है जिनके हस्ताक्षर नयी कवितासे सम्बद्ध हैं। किन्तु यह दायित्व नया कवि अपनी पीड़ा, अपने विवेक और अपनी चेतनाके द्वारा ही खोजना चाहता है। वह किसी बाह्या-

रोपित दायित्वको नहीं स्वीकार करता । वह स्वातन्त्र्यका हक माँगता है, ताकि वह अपनी सार्थकता खोज सके । अपना दायित्व भी खोज सके । केदारनाथ सिंहकी एक कविता है । 'फूलको हक दो' जिसमें उन्होंने हवा, फूल, लहरके प्रतीकोंसे इसे सुन्दर ढंगसे प्रस्तुत किया है....

लहरको हक दो....वह कभी संग पुरवाके

कभी संग पछुआके, इस तटपर भी आये...उस तटपर भी जाये

और किसी रेतीपर सिर रखकर सो जाये ।

नयी लहरके लिए ।

इसीलिए नया कवि व्यक्तिकी मुक्तिको दायित्वसे युक्त मानता है और उसी आत्मोपलब्ध दायित्वको अपनी पीड़ाकी सार्थकता मानता है और दूसरोंकी मुक्तिकी कामना करता है । अज्ञेयकी प्रख्यात पंक्तियाँ हैं....

दर्द सबको माँजता है

और, जिन्हें वह माँजता है उन्हें वह यह सीख देता है

कि सबको मुक्त रखें :

नये कवियोंकी आस्था इस पीड़ाकी मानवीयतापर है और वे यह मानते हैं कि यही पीड़ा, दायित्व-चेतना और मुक्ति-भावना मनुष्यकी उस अन्तरिकताको उभार सकती है, जो इस विघटनका परिहार कर ऐसी नयी भावभूमिका सृजन कर सके जिसमें व्यक्ति और समाजके कृत्रिम विरोधका परिशमन हो....

भटके हुए व्यक्तिका संशय

इतिहासोंका ग्रन्था निश्चय

ये दोनों जिसमें पा आश्रय

बन जायेंगे सार्थक समतल

ऐसे किसी अनागत पथका

पावन माध्यम भर है मेरी

आकुल प्रतिभा, अर्पित रसना ।—भारती

इस प्रकार नयी कविता एक अर्थमें 'अर्पित रसना' भी है। पर उसका वह अर्पण किसके प्रति है ? निस्सन्देह मानव-मूल्योंके प्रति। मात्र उसके व्यक्तिसे मानव-मूल्य बढ़े हैं और पीड़ाके माध्यमसे वह उन्हींको उपलब्ध करना चाहता है, उनकी उपलब्धिके लिए अपने अहम्को अर्पित भी करता है; क्योंकि वह दर्द उससे बढ़ा है.....सर्वेश्वरकी पंक्तियाँ हैं....

‘लगा मुझको उठाकर कोई खड़ा कर गया।

और मेरे दर्दको मुझसे बढ़ा कर गया।’

और उसी दीपकसे व्यक्ति मनको भक्तिको अर्पित करनेका आग्रह ‘अज्ञेय’ में है....

जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय इसको भी भक्तिको दे दो।

यह अर्पण एक नयी सामाजिकताका प्रारम्भ बिन्दु है जिसमें सामाजिकता ‘आन्तरिक’ है, केवल बाह्य नहीं। वह दूसरोंकी पीड़ा पहचाननेका व्रत लेकर चलती है, क्योंकि व्यक्ति रूपमें उसने खुद पीड़ा भोगी है। आन्तरिक सामाजिकतापर आग्रह उस मानवीय विघटनको चुनौती देता है जो आज व्यक्तिके विनाश और समाजके खोखलेपनमें प्रतिबिम्बित हो रहा है।

यही उसकी आस्थाका आधार भी है। कुँवर नारायणकी पंक्तियाँ हैं....

है मुझे स्वीकार

मेरे वन, अकेलेपन, परिस्थितिके सभी काँटे

ये दधीची हड्डियाँ हर दाहमें तप लें

न जाने कौन दैवी आसुरी संघर्ष बाक़ी हों अभी

जिसमें तपायी हड्डियाँ मेरी यशस्वी हों....

